Brihadaranyakopanishad

(Hindi)

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची



द्वितीय अध्याय

विषय पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

षष्ठ ब्राह्मण

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

द्वितीय ब्राह्मण

तृतीय ब्राह्मण

चतुर्थ ब्राह्मण

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

द्वितीय ब्राह्मण

विषय पृष्ठ-संख्या

पञ्चदश ब्राह्मण

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

द्वितीय ब्राह्मण



ॐ

यस्मिन्नापूर्यमाणे पतति करतला-

च्छङ्करस्यापि शूलं

त्रासादुद्भ्रान्तचित्ता रविरथतुरगा

भ्रष्टमार्गाः प्रयान्ति।

ब्रह्मा ब्रह्माण्डभाण्डस्फुटनपरिभया-

त्स्तौति नारायणाख्यं

सोऽस्मान्पायात्सुनादो वदनविनिहितः

पाञ्चजन्यो मुरारेः॥



ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

बृहदारण्यकोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित



शङ्करः शङ्कराचार्यः सद्गुरुः शर्वसन्निभः।
सर्वेषां शङ्कराः सन्तु सच्चिदानन्दरूपिणः॥



शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

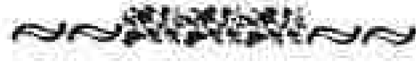
ॐ वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है; क्योंकि पूर्णसे पूर्णकी ही उत्पत्ति होती है तथा [प्रलयकालमें] पूर्ण (कार्यब्रह्म) का पूर्णत्व लेकर (अपनेमें लीन करके) पूर्ण (परब्रह्म) ही बच रहता है। त्रिविध तापकी शान्ति हो।



प्रथमोऽध्यायः



प्रथम ब्राह्मण



सम्बन्ध-भाष्य

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः।

ॐ ब्रह्मविद्या-सम्प्रदायके प्रवर्तक [वंश[1] ब्राह्मणोक्त] गुरुपरम्परागत ब्रह्मादि वंश-ऋषियोंको तथा गुरुदेवको नमस्कार है।

नामनिरुक्तिः

'उषा वा अश्वस्य' इत्येवमाद्या वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषत्। तस्या इयमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते संसारव्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये। सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। तादर्थ्याद् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते।

'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि मन्त्रसे आरम्भ होनेवाली वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद् है। संसारबन्धनको दूर करनेकी इच्छावाले विरक्त पुरुषोंके लिये संसारके कारण (अज्ञान) की निवृत्तिके साधन ब्रह्मात्मैक्यबोधकी प्राप्तिके लिये उसकी यह अल्प ग्रन्थवाली (संक्षिप्त) व्याख्या आरम्भ की जाती है। यह ब्रह्मविद्या अपनेमें लगे हुए पुरुषोंके संसारका कारणसहित अत्यन्त अवसादन (उच्छेद) करती है, इसलिये उपनिषद् शब्दसे कही जाती है; क्योंकि 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक सद्-धातुका यही (अवसादन हो) अर्थ है। उस ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिरूप प्रयोजनवाला होनेके कारण यह ग्रन्थ भी उपनिषद् कहा जाता है।

---

१. इस उपनिषद्के द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठ अध्यायोंके अन्तिम ब्राह्मण 'वंशब्राह्मण' कहलाते हैं; क्योंकि उनमें इस ग्रन्थद्वारा प्रतिपादित विद्याओंकी आचार्यपरम्पराका उल्लेख किया गया है।

सेयं षडध्यायी अरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम्, बृहत्त्वात्परिमाणतो बृहदारण्यकम्। तस्यास्य कर्मकाण्डेन सम्बन्धोऽभिधीयते। सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः सर्वपुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्। दृष्टविषये चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सिद्धत्वान्नागमान्वेषणा।

आत्मतत्त्वनिरूपणे शास्त्रस्यार्थवत्त्वम्

न चासति जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वविज्ञाने जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छा स्यात् स्वभाववादिदर्शनात्। तस्मा-

यह छः अध्यायवाली उपनिषद् अरण्य (वन) में कही जानेके कारण आरण्यक है और [अन्य उपनिषदोंकी अपेक्षा] परिमाणमें बृहद् (बड़ी) होनेके कारण बृहदारण्यक कही जाती है। अब इसका कर्मकाण्डके साथ सम्बन्ध बतलाया जाता है। यह सारा ही वेद, जिनका प्रत्यक्ष और अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंसे ज्ञान नहीं होता, उन इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके उपायोंको प्रकाशित करनेवाला है, क्योंकि सभी पुरुषोंको स्वभावसे ही इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति इष्ट है। जो विषय प्रत्यक्ष हैं उनमें इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिके उपायोंका ज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे ही सिद्ध है, इसलिये वहाँ आगमप्रमाण ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं होती।

किंतु जन्मान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाले आत्माके अस्तित्वका ज्ञान न होनेपर जन्मान्तर-सम्बन्धिनी इष्टप्राप्ति और अनिष्ट-निवृत्तिकी इच्छा भी नहीं हो सकती, जैसा कि स्वभाववादियों (चार्वाकादिकों) में देखा जाता है[1]।

१. अर्थात् आत्माके अस्तित्वको न जाननेवाले लोकायतिक और बौद्धोंकी जन्मान्तरमें इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके उद्देश्यसे वैदिक क्रियाओंमें प्रवृत्ति नहीं होती—यह बात देखी गयी है।

जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते। ''येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'' (क० उ० १। १। २०) इत्युपक्रम्य ''अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'' (क० उ० २। ३। १३) इत्येवमादिनिर्णयदर्शनात्। ''यथा च मरणं प्राप्य'' (क० उ० २। २। ६) इत्युपक्रम्य ''योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्'' (क० उ० २। २। ७) इति च। ''स्वयञ्ज्योतिः'' (बृ० उ० ४। ३। ९) इत्युपक्रम्य ''तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते'' (४। ४। २) ''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'' (३। २। १३) इति च। ''ज्ञपयिष्यामि'' (बृ० उ० २। १। १५) इत्युपक्रम्य ''विज्ञानमयः''

अतः शास्त्र जन्मान्तर-सम्बन्धी आत्माके अस्तित्व और जन्मान्तरकी इष्टप्राप्ति एवं अनिष्टनिवृत्तिके उपायविशेषका निरूपण करनेमें प्रवृत्त होता है। जैसा कि [श्रुतिमें] ''मृत मनुष्यके विषयमें जो ऐसी शङ्का होती है कि कोई तो कहते हैं [शरीरादिसे अतिरिक्त देहान्तर-सम्बन्धी] आत्मा रहता है और कोई कहते हैं यह नहीं रहता'' इस प्रकार उपक्रम करके 'आत्मा है-ऐसा ही जानना चाहिये'' इत्यादि निर्णय देखा जाता है तथा ''[ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है'' इस प्रकार आरम्भ करके 'जिसने जैसा कर्म किया है तथा जिसने जैसा शास्त्रज्ञान प्राप्त किया है उसके अनुसार कोई तो देह धारण करनेके लिये किसी योनिको प्राप्त हो जाते हैं और कोई स्थावर हो जाते हैं'' इस प्रकार कहा है। एवं ''स्वयंप्रकाश है'' इस प्रकार आरम्भ कर''ज्ञान और कर्म उसके जन्मान्तरके आरम्भक होते हैं'' तथा ''वह पुण्यकर्मसे पुण्यवान् और पापकर्मोंसे पापमय होता है'' इत्यादि कहा गया है। इसी प्रकार ''बतलाऊँगा'' ऐसा उपक्रम कर ''आत्मा विज्ञानमय है''

(२। १। १६) इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम्।

तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेन्न, वादिविप्रतिपत्ति-दर्शनात्। न हि देहान्तरसम्बन्धिन आत्मनः प्रत्यक्षेणास्तित्वविज्ञाने लोकायतिका बौद्धश्च नः प्रतिकूलाः स्युर्नास्त्यात्मेति वदन्तः। न हि घटादौ प्रत्यक्षविषये कश्चि-द्विप्रतिपद्यते नास्ति घट इति। स्थाण्वादौ पुरुषादिदर्शनान्नेति चेन्न, निरूपितेऽभावात्। न हि प्रत्यक्षेण निरूपिते स्थाण्वादौ विप्रतिपत्तिर्भवति। वैनाशिका-स्त्वहमितिप्रत्यये जायमानेऽपि देहान्तरव्यतिरिक्तस्य नास्तित्व-मेव प्रतिजानते। तस्मात्प्रत्यक्ष-विषयवैलक्षण्यात् प्रत्यक्षान्नात्मास्तित्व-सिद्धिः।

प्रत्यक्षानुमानाभ्यां नात्मनोऽस्तित्वसिद्धिः

इस प्रकार देहसे भिन्न आत्माका अस्तित्व बतलाया गया है।

यदि कहो कि आत्माका अस्तित्व तो प्रत्यक्ष प्रमाणका ही विषय है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इसके सम्बन्धमें विभिन्न वादियोंका मतभेद देखा जाता है। यदि देहान्तरसम्बन्धी आत्माके अस्तित्वका ज्ञान प्रत्यक्ष होता तो लोकायतिक और बौद्ध 'आत्मा नहीं है' ऐसा कहते हुए हमारे प्रतिकूल न होते। घटादि जो प्रत्यक्षप्रमाणके विषय हैं, उनमें 'घट नहीं है' ऐसा संदेह किसीको नहीं होता। यदि कहो कि स्थाणु (ठूँठ) आदिमें पुरुषादिका भ्रम देखा जानेके कारण प्रत्यक्ष वस्तुमें संशयका अभाव नहीं बताया जा सकता तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि अच्छी तरह देख लेनेपर उस संशयका अभाव हो जाता है। स्थाणु आदिका प्रत्यक्ष निरूपण हो जानेपर उसमें किसीको संदेह नहीं रहता। किंतु वैनाशिक तो 'अहम्' ऐसी वृत्तिके उदय होनेपर भी देहान्तरसे भिन्न आत्माके न होनेका ही निश्चय करते हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके विषयसे विलक्षण होनेके कारण प्रत्यक्षसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती।

तथानुमानादपि। श्रुत्या आत्मास्तित्वे लिङ्गस्य दर्शितत्वाल्लिङ्गस्य च प्रत्यक्षविषयत्वान्नेति चेन्न, जन्मान्तरसम्बन्धस्याग्रहणात् । आगमेन त्वात्मास्तित्वेऽवगते वेदप्रदर्शितलौकिकलिङ्गविशेषैश्च तदनुसारिणो मीमांसकास्तार्किकाश्च अहम्प्रत्ययलिङ्गानि च वैदिकान्येव स्वमतिप्रभवाणीति कल्पयन्तो वदन्ति प्रत्यक्षश्चानुमेयश्चात्मेति।

इसी प्रकार अनुमानसे[1] भी [आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता]। यदि कहो कि श्रुतिने आत्माके अस्तित्वमें लिङ्ग[2] (बीज) दिखलाया है और लिङ्ग प्रत्यक्षप्रमाणका विषय होता है, इसलिये आत्मा [प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणका भी विषय है] केवल आगमका ही विषय नहीं है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि जन्मान्तरके सम्बन्धका किसी अन्य प्रमाणसे ग्रहण नहीं होता। आगम-प्रमाणसे तथा वेदोक्त लौकिक लिङ्गविशेषोंके द्वारा आत्माका अस्तित्व जान लेनेपर ही उसीका अनुसरण करनेवाले मीमांसक और नैयायिक वैदिक अहंप्रतीति और वैदिक लिङ्गोंको ही 'ये हमारी बुद्धिसे निकले हुए तर्क हैं' ऐसी कल्पना करते हुए कहते हैं कि 'आत्मा प्रत्यक्ष और अनुमानका भी विषय है'।

सर्वथाप्यस्त्यात्मा देहान्तर-कर्मज्ञानकाण्डयो: सम्बन्धीत्येवं प्रतिपत्तु-प्रयोजनम् देहान्तर-

सब प्रकार देहान्तरसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मा है-ऐसा जानने-वाले तथा देहान्तरगत इष्टप्राप्ति और

१. अनुमानका स्वरूप यों है—इच्छा आदि किसीके आश्रित होते हैं; क्योंकि वे गुण हैं, जैसे रूप आदि। इस प्रकारके अनुमानद्वारा इच्छादिके आश्रयरूपसे भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि इच्छादिका अधिष्ठान मन ही प्रसिद्ध है, मनसे अतिरिक्त इच्छादिकी उपलब्धि नहीं होती।

२. 'य: प्राणेन प्राणिति' इत्यादि श्रुतिके अनुसार प्राणनादि व्यापार ही आत्माके अस्तित्वमें लिङ्ग है।

गतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायविशेषार्थिन-स्तद्विशेषज्ञापनाय कर्मकाण्ड-मारब्धम्। न त्वात्मन इष्टानिष्टप्राप्ति-परिहारेच्छाकारणमात्मविषयमज्ञानं कर्तृभोक्तृस्वरूपाभिमानलक्षणं तद्विपरीत-ब्रह्मात्मस्वरूपविज्ञाने-नापनीतम्। यावद्धि तन्नापनीयते तावदयं कर्मफलरागद्वेषादि-स्वाभाविकदोषप्रयुक्तः शास्त्रविहित-प्रतिषिद्धातिक्रमेणापि वर्तमानो मनोवाक्कायैर्दृष्टादृष्टानिष्टसाधनानि अधर्मसंज्ञकानि कर्माण्युपचिनोति बाहुल्येन, स्वाभाविक-दोषबलीयस्त्वात्। ततः स्थावरान्ताधोगतिः कदाचि-च्छास्त्रकृतसंस्कारबलीयस्त्वम्, ततो मनआदिभिरिष्टसाधनं बाहुल्ये-नोपचिनोति धर्माख्यम्। तद् द्विविधम्—ज्ञानपूर्वकं केवलञ्च। तत्र केवलं पितृलोकादिप्राप्तिफलम्। ज्ञानपूर्वकं देवलोकादि-

अनिष्टनिवृत्तिके उपायविशेषको जाननेकी इच्छावाले पुरुषोंको उस विशेष उपायका ज्ञान करानेके लिये कर्मकाण्ड आरम्भ किया गया है। उसमें आत्माकी इष्टप्राप्ति एवं अनिष्टनिवृत्तिकी इच्छाके कारण कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानरूप आत्मविषयक अज्ञानको उससे विपरीत ब्रह्मात्मस्वरूप ज्ञानके द्वारा दूर नहीं किया गया। जबतक उस (अज्ञान) की निवृत्ति नहीं होती, तबतक यह जीव कर्मफलके राग-द्वेषादिरूप स्वाभाविक दोषोंसे प्रेरित होनेके कारण शास्त्रकथित विधि और निषेधका उल्लङ्घन करके भी बर्तता हुआ मन, वाणी और शरीरसे दृष्ट और अदृष्ट अनिष्टके साधनभूत अधर्मसंज्ञक कर्मोंको अधिकतासे करता रहता है, क्योंकि स्वभावजनित दोष बहुत प्रबल होता है। इससे उसे स्थावरपर्यन्त अधोगति प्राप्त होता है। कभी शास्त्रोक्त संस्कारोंकी प्रबलता होती है, उस समय यह मन आदिसे अधिकतर धर्मसंज्ञक इष्टसाधनोंका सम्पादन करता है। वे ज्ञान (उपासना)-पूर्वक और केवल भेदसे दो प्रकारके हैं। उनमें केवल धर्म पितृलोकादिकी प्राप्तिरूप फलवाले हैं और ज्ञानपूर्वक धर्म देवलोकसे लेकर

ब्रह्मलोकान्तप्राप्तिफलम्। तथा च शास्त्रम्—''आत्मयाजी श्रेयान्देवयाजिनः'' (शत० ब्राह्म०) इत्यादि। स्मृतिश्च ''द्विविधं कर्म वैदिकम्'' (मनु० १२। ८८) इत्याद्या। साम्ये च धर्माधर्मयोःमनुष्यत्वप्राप्तिः। एवं ब्रह्माद्या स्थावरान्ता स्वाभाविकाविद्यादिदोषवती धर्माधर्मसाधनकृता संसारगतिर्नामरूपकर्माश्रया। तदेवेदं व्याकृतं साध्यसाधनरूपं जगत्प्रागुत्पत्तेरव्याकृतमासीत्। स एष बीजाङ्कुरादिवदविद्याकृतः संसार आत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपलक्षणोऽनादिरनन्तोऽनर्थः, इत्येतस्माद्विरक्तस्याविद्यानिवृत्तये तद्विपरीतब्रह्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थोपनिषदारभ्यते।

ब्रह्मलोकतककी प्राप्तिरूप फलवाले हैं। ऐसा ही शास्त्र भी कहता है—''देवोपासककी अपेक्षा आत्मोपासक श्रेष्ठ है।''[१] तथा ''वैदिक कर्म दो प्रकारका है'' (प्रवृत्तिप्रधान और निवृत्तिप्रधान) ऐसी स्मृति भी है। धर्म और अधर्मकी समान मात्रा होनेपर मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्म एवं अधर्मरूप साधनसे होनेवाली ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त नाम, रूप एवं कर्मके आश्रित स्वाभाविक अविद्यादि दोषवाली सांसारिक गति है। वह यह साध्यसाधनरूप व्याकृत जगत् उत्पत्तिसे पूर्व अव्याकृत था। आत्मामें क्रिया, कारक एवं फलका आरोपरूप यह अविद्याकृत संसार बीजाङ्कुरादिके समान [प्रवाहरूपसे] अनादि और अनन्त अनर्थरूप है; अतः इससे विरक्त हुए पुरुषकी अविद्याकी निवृत्तिके लिये इससे विपरीत ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिरूप प्रयोजनवाली यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है।

अश्वमेधब्राह्मण-प्रयोजनम्

अस्य त्वश्वमेधकर्मसम्बन्धिनो विज्ञानस्य प्रयोजनं येषामश्वमेधे

[इस उपनिषद्के आरम्भमें कहे हुए] इस अश्वमेधकर्मसम्बन्धी विज्ञानका तो यही प्रयोजन है कि

१. सर्वत्र परमात्मबुद्धि रखकर नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला पुरुष आत्मयाजी (आत्मोपासक) है और कामनापूर्वक देवताओंकी उपासना करनेवाला देवयाजी (देवोपासक) है।

नाधिकारस्तेषामस्मादेव विज्ञानात् फलप्राप्तिः। 'विद्यया वा कर्मणा वा' ''तद्धैतल्लोकजिदेव'' (बृ० उ० १। ३। २८) इत्येवमादिश्रुतिभ्यः।

कर्मविषयत्वमेव विज्ञानस्येति चेन्न, ''योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद'' इति विकल्पश्रुतेः। विद्याप्रकरणे चाम्नानात् कर्मान्तरे च सम्पादनदर्शनाद् विज्ञानात् तत्फलप्राप्तिरस्तीत्यवगम्यते। सर्वेषां च कर्मणां परं कर्माश्वमेधः समष्टिव्यष्टिप्राप्तिफलत्वात्। तस्य चेह ब्रह्मविद्याप्रारम्भ आम्नानं सर्वकर्मणां संसारविषयत्व-

जिनका [आसमर्थ्यवश] अश्वमेध यज्ञमें अधिकार नहीं है उन्हें इस विज्ञानसे ही उसके फलकी प्राप्ति हो जाय; जैसा कि ''ज्ञान (उपासना) से अथवा कर्मसे [उसके फलकी प्राप्ति होती है]'' ''वह यह (प्राणदर्शन) लोक-प्राप्तिका साधन है'' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है।

यदि कहो कि अश्वमेधविज्ञान अश्वमेधकर्मसे ही सम्बन्ध रखता है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि ''जो अश्वमेधसे यजन करता है अथवा जो इसे इस प्रकार जानता है [वह सब पापोंको पार कर जाता है]'' इस प्रकार कर्मके ज्ञान और अनुष्ठानका विकल्प बतलानेवाली श्रुति है। इसके सिवा इसका उल्लेख उपासनाप्रकरणमें होनेसे तथा अश्वमेधसे भिन्न [चित्याग्नि] कर्ममें[1] इसका सम्पादन देखा जानेसे भी यह ज्ञात होता है कि अश्वमेधविज्ञानसे भी अश्वमेधका ही फल मिलता है। समष्टि और व्यष्टि हिरण्यगर्भकी प्राप्तिरूप फलवाला होनेसे समस्त कर्मोंमें अश्वमेध कर्म उत्कृष्ट है। यहाँ ब्रह्म-विद्याके आरम्भमें उसका उल्लेख समस्त

१. 'अयं वै लोकोऽग्निः' (बृ० उ० ६। २। ११) इत्यादि वाक्यद्वारा।

प्रदर्शनार्थम्। तथा च दर्शयिष्यति फलमशनायामृत्युभावम्।

न नित्यानां संसारविषयफलत्वमिति चेन्न, सर्वकर्मफलोपसंहारश्रुतेः। सर्वं हि पत्नीसम्बद्धं कर्म। "जाया मे स्यात्............ एतावान्वै कामः" (बृ० उ० १।४।१७) इति निसर्गत एव सर्वकर्मणां काम्यत्वं दर्शयित्वा, पुत्रकर्मापरविद्यानां च "मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) इति फलं दर्शयित्वा, त्र्यन्नात्मकतां चान्ते उपसंहरिष्यति "त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म" (बृ० उ० १।६।१) इति सर्वकर्मणां फलं व्याकृतं संसार एवेति।

इदमेव त्रयं प्रागुत्पत्तेस्तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तदेव पुनः सर्वप्राणिकर्मवशाद्व्याक्रियते बीजादिव वृक्षः। सोऽयं व्याकृताव्याकृत-

कर्मोंका संसारसम्बन्धित्व प्रदर्शित करनेके लिये किया गया है। इसी प्रकार श्रुति हिरण्यगर्भको क्षुधारूप मृत्युभावकी प्राप्ति दिखलावेगी।

यदि कहो कि नित्यकर्म संसार विषयक फलवाले नहीं हैं तो यह ठीक नहीं, क्योंकि समस्त कर्मफलोंका [सांसारिक विषयोंमें ही] उपसंहार किया जाता है—ऐसी श्रुति है। सारे ही कर्मोंका सम्बन्ध स्त्रीसे है। "मुझे स्त्री प्राप्त हो...इतनी ही कामना है" इस प्रकार स्वभावसे ही समस्त कर्मोंकी सकामता दिखलाकर फिर पुत्र, कर्म और अपरा विद्याके "मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक' इस प्रकार विभिन्न फल दिखाते हुए श्रुति "यह जगत् नाम, रूप और कर्म—इन तीन अवयवोंसे युक्त है" ऐसा कहकर अन्तमें इसकी तीन अन्नरूपताका उपसंहार करेगी। तात्पर्य यह है कि समस्त कर्मोंका फल व्याकृत संसार ही है।

यही त्रय उत्पत्तिसे पूर्व तो अव्याकृत ही था। वही बीजसे वृक्षके समान समस्त प्राणियोंके कर्मवश व्याकृत हो जाता है। वह यह व्यक्ताव्यक्तरूप

रूपः संसारोऽविद्याविषयः; क्रियाकारकफलात्मकतया आत्मरूपत्वेनाध्यारोपितः। अविद्ययैव मूर्तामूर्ततद्वासनात्मकः। अतो विलक्षणोऽनामरूपकर्मात्मकोऽद्वयो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि क्रियाकारकफलभेदादिविपर्ययेणावभासते। अतोऽस्मात्क्रियाकारकफलभेदस्वरूपाद् एतावदिदमिति साध्यसाधनरूपाद्विरक्तस्य कामादिदोषकर्मबीजभूताविद्यानिवृत्तये रज्ज्वामिव सर्पविज्ञानापनयाय ब्रह्मविद्या आरभ्यते।

संसार अविद्याका विषय है। अविद्यासे ही मूर्त्त, अमूर्त्त और उनकी वासनारूप यह संसार क्रिया, कारक और फलरूप होनेसे आत्मभावसे आरोपित होता है। इससे भिन्न आत्मा नाम, रूप और कर्मसे रहित, अद्वितीय तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप होनेपर भी क्रिया, कारक और फल-भेदादि विपरीत भावसे प्रतीत होता है। अतः इस साध्य-साधनरूप एवं क्रिया, कारक और फल-भेदरूप संसारसे 'यह इतना ही है' इस प्रकार विरक्त हुए पुरुषकी कामादि दोषमय कर्मोंकी बीजभूता अविद्याकी, रज्जुमें सर्पज्ञानके बाधके समान, निवृत्ति करनेके लिये ब्रह्मविद्याका आरम्भ किया जाता है।

तत्र तावदश्वमेधविज्ञानाय 'उषा वा अश्वस्य' इत्यादि। तत्राश्वविषयमेव दर्शनमुच्यते प्राधान्यादश्वस्य। प्राधान्यं च तत्रामाङ्कितत्वात्क्रतोः प्राजापत्यत्वाच्च।

उसमें अश्वमेधविद्याका वर्णन करनेके लिये ''उषा वा अश्वस्य' इत्यादि मन्त्र कहा जाता है। अश्वमेध यज्ञमें अश्वकी प्रधानता होनेके कारण यहाँ अश्वविषयक दृष्टि ही कही गयी है। यह यज्ञ 'अश्व' नामसे अङ्कित है और इसका देवता प्रजापति है, इसीलिये इसमें अश्वकी प्रधानता मानी गयी है।

अश्वके अवयवोंमें कालादि-दृष्टि

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो

व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्॥ १॥

ॐ उषा (ब्राह्ममुहूर्त) यज्ञसम्बन्धी अश्वका सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर यज्ञीय अश्वका आत्मा है। द्युलोक उसका पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखनेका स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्द्धमास पर्व (सन्धिस्थान) हैं, दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) हैं, नक्षत्र अस्थियाँ हैं, आकाश (आकाशस्थित मेघ) मांस हैं, बालू ऊवध्य (उदरस्थित अर्धपक्व अन्न) है, नदियाँ नाडी हैं, पर्वत यकृत् (जिगर) और हृदयगत मांसखण्ड हैं, ओषधि और वनस्पतियाँ लोम हैं, ऊपरकी ओर जाता हुआ सूर्य नाभिसे ऊपरका भाग और नीचेकी ओर जाता हुआ सूर्य कटिसे नीचेका भाग है। उसका जमुहाई लेना बिजलीका चमकना है और शरीर हिलाना मेघका गर्जन है। वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और वाणी ही उसकी वाणी है॥ १॥

उषा इति, ब्राह्मो मुहूर्त उषाः। वैशब्दः स्मरणार्थः प्रसिद्धं कालं स्मारयति। शिरः प्राधान्यात्। शिरश्च

'उषा वा' इत्यादि। ब्राह्ममुहूर्तका नाम उषा है। 'वै' शब्द स्मरण करानेके लिये है। यह प्रसिद्ध कालका स्मरण कराता है। वह प्रसिद्ध उषाकाल प्रधान होनेके कारण सिर है। सिर भी शरीरके

प्रधानं शरीरावयवानाम्। अश्वस्य मेध्यस्य मेधार्हस्ययज्ञियस्योषाः शिर इति सम्बन्धः। कर्माङ्गस्य पशोः संस्कर्तव्यत्वात् कालादिदृष्टयः शिर आदिषु क्षिप्यन्ते। प्राजापत्यत्वं च प्रजापतिदृष्ट्यध्यारोपणात् । काललोकदेवतात्वाध्यारोपणं च प्रजापतित्वकरणं पशोः। एवंरूपो हि प्रजापतिः, विष्णुत्वादिकरणमिव प्रतिमादौ।

अवयवोंमें प्रधान है। अतः मेध्य—मेधार्ह (यज्ञार्ह) यानी यज्ञसम्बन्धी अश्वका उषा सिर है-ऐसा इसका अन्वय है। कर्मके अङ्गभूत पशुका संस्कार किया जाना चाहिये, इसलिये उसके सिर आदिमें कालादिदृष्टियाँ की जाती हैं। उसमें प्रजापति-दृष्टिका अध्यारोप किया जाता है, इसीसे यह प्राजापत्य (प्रजापतिदेवतासम्बन्धी) है। काल, लोक और देवत्वका आरोप करना ही पशुका प्रजापतित्व सम्पादन करना है। जिस प्रकार प्रतिमादिमें विष्णुत्वादिकी प्रतिष्ठा की जाती है उसी प्रकार यह उक्तरूपसे प्रजापति है।

सूर्यश्चक्षुः शिरसोऽनन्तरत्वात् सूर्याधिदैवतत्वाच्च। वातः प्राणो वायुस्वाभाव्यात्। व्यात्तं विवृतं मुखमग्निर्वैश्वानरः। वैश्वानर इत्यग्नेर्विशेषणम्। वैश्वानरो नामाग्निर्विवृतं मुखमित्यर्थो मुखस्याग्निदैवतत्वात्। संवत्सर आत्मा, संवत्सरो द्वादशमासस्त्रयोदशमासो वा,

[जिस प्रकार उषाके अनन्तर सूर्य दिखायी देता है उसी प्रकार] सिरके अनन्तर नेत्र हैं और सूर्य ही नेत्रोंका अभिमानी देव है, इसलिये सूर्य उसका नेत्र है। वायु प्राण है, क्योंकि वह वायुके-से स्वभाववाला है। वैश्वानर अग्नि व्यात्त यानी खुला हुआ मुख है। 'वैश्वानर' यह अग्निका विशेषण है। अर्थात् वैश्वानर अग्नि उसका खुला हुआ मुख है; क्योंकि मुखका अधिष्ठातृदेव अग्नि ही है। संवत्सर आत्मा है; संवत्सर बारह या तेरह महीनेका होता है, वह उसका

आत्मा शरीरम्। कालावयवानां च संवत्सरः शरीरम्, शरीरं चात्मा ''मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा'' इति श्रुतेः। अश्वस्य मेध्यस्येति सर्वत्रानुषङ्गार्थं पुनर्वचनम्।

द्यौः पृष्ठमूर्ध्वत्वसामान्यात्। अन्तरिक्षमुदरं सुषिरत्वसामान्यात् पृथिवी पाजस्यं पादस्यं पाजस्यमिति वर्णव्यत्ययेन, पादासनस्थानमित्यर्थः। दिशश्चतस्रोऽपि पार्श्वे पार्श्वेन दिशां सम्बन्धात्। पार्श्वयोर्दिशां च सङ्ख्यावैषम्यादयुक्तमिति चेन्न, सर्वमुखत्वोपपत्तेरश्वस्य पार्श्वाभ्यामेव सर्वदिशां सम्बन्धाददोषः। अवान्तरदिश

आत्मा यानी शरीर है। कालके अवयवोंका संवत्सर ही शरीर है, और ''इन सब अङ्गोंका मध्यभाग आत्मा है'' इस श्रुतिके अनुसार शरीर ही आत्मा है। 'अश्वस्य मेध्यस्य' इसकी पुनरुक्ति इसका सबके साथ सम्बन्ध प्रदर्शित करनेके लिये है।

ऊर्ध्वत्वमें समानता होनेके कारण द्युलोक उसका पृष्ठभाग है, अवकाश या छिद्ररूपतामें समानता होनेके कारण अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पाजस्य-पादस्य यानी पैर रखनेका स्थान है। 'पादस्य' के वर्ण (द) का ['व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३। १। ८५) इस सूत्रके अनुसार जकारके रूपमें] व्यत्यय होनेसे 'पाजस्य' हुआ है। चारों दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, क्योंकि पार्श्वसे दिशाओंका सम्बन्ध है। [यदि कहो कि] पार्श्व और दिशाओंकी[१] संख्यामें समानता न होनेके कारण ऐसा कहना उचित नहीं है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अश्वका मुख सभी दिशाओंकी ओर हो सकता है, अतः उसके पार्श्वोंका सभी दिशाओंसे सम्बन्ध होनेके कारण इसमें

१. क्योंकि दिशाएँ चार हैं और पार्श्व केवल दो होते हैं।

आग्नेय्याद्याः पर्शवः पार्श्वास्थीनि। ऋतवोऽङ्गानि संवत्सरावयवत्वादङ्गसाधर्म्यात्। मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाणि सन्धयः सन्धिसामान्यात्। अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः। बहुवचनात् प्राजापत्यदैवपित्र्यमानुषाणि, प्रतिष्ठाः पादाः प्रतितिष्ठत्येतैरिति। अहोरात्रैर्हि कालात्मा प्रतितिष्ठत्यश्वश्च पादैः।

कोई दोष नहीं है। आग्नेयी आदि अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ अर्थात् पार्श्वभागकी अस्थियाँ हैं। ऋतुएँ अङ्ग हैं, क्योंकि संवत्सरके अवयव होनेके कारण अङ्गोंसे उनकी समानता है। मास और अर्धमास पर्व—सन्धियाँ हैं; क्योंकि सन्धिसे उनकी समानता है। दिन और रात्रि प्रतिष्ठा है। 'अहोरात्राणि' इस पदमें बहुवचन होनेके कारण प्रजापति, देवता, पितृगण और मनुष्य सभीके दिन-रात[1] प्रतिष्ठा अर्थात् पाद हैं, क्योंकि इनसे वह प्रतिष्ठित होता है। कालात्मा दिनरात्रिके द्वारा प्रतिष्ठित होता है और अश्व पैरोंके द्वारा।

नक्षत्राण्यस्थीनि शुक्लत्वसामान्यात्। नभो नभःस्था मेघा अन्तरिक्षस्योदरत्वोक्तेः, मांसान्युदकरुधिरसेचनसामान्यात्। ऊवध्यं उदरस्थमर्धजीर्णमशनं सिकता

शुक्लत्वमें समानता होनेके कारण नक्षत्र अस्थियाँ हैं। आकाश अर्थात् आकाशस्थित मेघ, क्योंकि अन्तरिक्ष (आकाश) की उदररूपता कही जा चुकी है, मांस हैं, क्योंकि जलरूप रुधिर बरसानेमें उनकी मांससे समानता है। अवयवोंके बिलग-बिलग रहनेमें समानता होनेके कारण बालू ऊवध्य

१. प्रजापतिका एक अहोरात्र दो सहस्र युगका होता है, देवताओंका अहोरात्र उत्तरायण और दक्षिणायनरूप है, पितृगणका अहोरात्र शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष है तथा मनुष्यका अहोरात्र एक दिन और एक रात्रि है।

विश्लिष्टावयवत्वसामान्यात्। सिन्धवः स्यन्दनसामान्यान्नद्यो गुदा नाड्यो बहुवचनाच्च। यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मांस-खण्डौ। क्लोमान इति नित्यं बहुवचनमेकस्मिन्नेव। पर्वताः काठिन्यादुच्छ्रितत्वाच्च। ओषधयश्च क्षुद्राः स्थावरा वनस्पतयो महान्तो लोमानि केशाश्च यथासम्भवम्।

उद्यन्नुद्गच्छन्भवति सविता आमध्याह्नादश्वस्य पूर्वार्धो नाभे-रूर्ध्वमित्यर्थः। निम्लोचन्नस्तं यन्नामध्याह्नाज्जघनार्धोऽपरार्धः-पूर्वापरत्वसाधर्म्यात्। यद्विजृम्भते गात्राणि विनामयति विक्षिपति तद्विद्योतते विद्योतनं मुखघन-विदारणसामान्यात्। यद्विधूनुते

उदरस्थित अर्धजीर्ण अन्न है। सिन्धु अर्थात् स्यन्दन (बहने) में समानता होनेके कारण नदियाँ गुदा-नाडियाँ हैं, क्योंकि यहाँ 'सिन्धवः' और 'गुदाः' दोनों ही पद बहुवचनान्त हैं[1]। कठिन और ऊँचे उठे हुए होनेके कारण पर्वत यकृत् और क्लोमा हैं। 'यकृत्' और 'क्लोमा'—हृदयके अधोभागमें सीधे और बायें दो मांसखण्ड हैं। 'क्लोमानाः' यह एकके ही अर्थमें नित्य बहुवचनान्त होता है। ओषधि—क्षुद्र स्थावर और वनस्पति—महान् स्थावर ये यथासम्भव लोम और केश हैं।

सूर्य जो मध्याह्नकालपर्यन्त उदित होता—ऊपरकी ओर जाता है वह अश्वका पूर्वार्ध यानी नाभिसे ऊपरका भाग है और निम्लोचन अर्थात् मध्याह्नकालसे अस्तकी ओर जाता हुआ वह सूर्य जघनार्ध—अपरार्ध (नीचेका भाग) है, क्योंकि पूर्वत्व और अपरत्वमें उन (उदित और अस्त होते हुए सूर्य) की समानता है। तथा वह जो जमुहाई लेता अर्थात् अङ्गोंको फैलाता यानी उन्हें विशेषरूपसे झाड़ता है। वह बिजलीका चमकना है, क्योंकि विद्योतन और मुख एवं मेघके

१. अतएव यहाँ 'गुदा' शब्द लोकप्रसिद्ध नितम्ब-अर्थका बोधक नहीं हो सकता।

गात्राणि कम्पयति तत्स्तनयति गर्जनशब्दसामान्यात्। यन्मेहति मूत्रं करोत्यश्वस्तद्वर्षति वर्षणं तत् सेचनसामान्यात्। वागेव शब्द एवास्याश्वस्य वागिति, नात्र कल्पनेत्यर्थः॥ १॥

विदारणमें समानता है। तथा वह जो हिलाता अर्थात् शरीरको कम्पित करता है वह मेघका गर्जन है; क्योंकि इन दोनोंहीमें गर्जन-शब्द रहनेमें समानता है। और वह अश्व जो मूत्रत्याग करता है वही वर्षा होना है, क्योंकि भिगोनेमें इन दोनोंकी समानता है। वाक् अर्थात् शब्द ही इस अश्वकी वाणी है; तात्पर्य यह है कि यहाँ कोई कल्पना नहीं है॥ १॥



अश्वमेधसम्बन्धी महिमासंज्ञक ग्रहादिमें अहरादिदृष्टि

अहर्वा एति। सौवर्णराजतौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वस्याग्रतः पृष्ठतश्च स्थाप्येते तद्विषयमिदं दर्शनम्—

'अहर्वा' इत्यादि। अश्वके आगे और पीछे महिमा नामके सोने और चाँदीके दो ग्रह (यज्ञीय पात्रविशेष) रखे जाते हैं; उन्हींसे सम्बन्ध रखनेवाली यह दृष्टि है—

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वासुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः॥ २॥

अश्वके सामने महिमारूपसे दिन प्रकट हुआ; उसकी पूर्व समुद्र योनि है। रात्रि इसके पीछे महिमारूपसे प्रकट हुई; उसकी अपर (पश्चिम) समुद्र योनि है। ये ही दोनों इस अश्वके आगे-पीछेके महिमासंज्ञक ग्रह हुए। इसने हय

होकर देवताओंको, वाजी होकर गन्धर्वोंको, अर्वा होकर असुरोंको और अश्व होकर मनुष्योंको वहन किया है। समुद्र ही इसका बन्धु है और समुद्र ही उद्गमस्थान है॥ २॥

अहः सौवर्णो ग्रहो दीप्तिसामान्याद्वै। अहरश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायतेति कथम्? अश्वस्य प्रजापतित्वात्। प्रजापतिर्ह्यादित्यादिलक्षणोऽह्ना लक्ष्यते। अश्वं लक्षयित्वाजायत सौवर्णो महिमा ग्रहो वृक्षमनु विद्योतते विद्युदिति यद्वत्। तस्य ग्रहस्य पूर्वे पूर्वः समुद्रे समुद्रो योनिर्विभक्तिव्यत्ययेन। योनिरित्यासादनस्थानम्।

तथा रात्री राजतो ग्रहो वर्णसामान्याजघन्यत्वसामान्याद्वा। एनमश्वं पश्चात्पृष्ठतो महिमान्वजायत, तस्यापरे समुद्रे योनिः। महिमा महत्त्वात्। अश्वस्य हि

दीप्तिमें समानता होनेके कारण दिन ही सुवर्णमय ग्रह है। दिन ही इस अश्वके सामने महिमारूपसे प्रकट हुआ, सो किस प्रकार? क्योंकि यह अश्व प्रजापतिरूप है; आदित्यादिरूप प्रजापति ही दिनसे लक्षित होता है। जिस प्रकार वृक्षको लक्ष्य बनाकर बिजली चमकती है उसी प्रकार इस अश्वको लक्षित कराकर दिनरूप सुवर्णमय महिमासंज्ञक ग्रह प्रकट हुआ है। उस ग्रहका 'पूर्वे समुद्रे' अर्थात् पूर्वसमुद्र योनि है। योनि अर्थात् प्राप्तिस्थान है। यहाँ [वैदिक प्रक्रियाके अनुसार] प्रथमा विभक्तिका सप्तमीके रूपमें व्यत्यय हुआ है, अतः 'पूर्वे समुद्रे' का 'पूर्वः समुद्रः' अर्थ किया गया है।

इसी प्रकार वर्णमें और निकृष्टतामें समानता होनेके कारण रात्रि—राजत (चाँदीका) ग्रह है। यह इस अश्वके पीछेकी ओर यानी पृष्ठभागमें महिमारूपसे प्रकट हुई। उसका पश्चिमसमुद्र उद्गमस्थान है। महत्ताके कारण ये 'महिमा' कहलाते हैं। यह

विभूतिरेषा यत्सौवर्णो राजतश्च ग्रहावुभयतः स्थाप्येते। तावेतौ वै महिमानौ महिमाख्यौ ग्रहावश्वमभितः सम्बभूवतुरुक्तलक्षणावेव सम्भूतौ। इत्थमसावश्वो महत्त्वयुक्त इति पुनर्वचनं स्तुत्यर्थम्।

अश्वकी विभूति ही है कि इसके आगे-पीछे सुवर्ण और चाँदीके ग्रह (पात्रविशेष) रखे जाते हैं। वे ये महिमा अर्थात् ऊपर बतलाये हुए लक्षणोंवाले महिमासंज्ञक ग्रह ही अश्वके आगे-पीछे प्रकट हुए हैं। इस प्रकार यह अश्व महत्त्वयुक्त है—यह पुनरुक्ति अश्वकी स्तुतिके लिये है।

तथा च हयो भूत्वेत्यादि स्तुत्यर्थमेव। हयो हिनोतेर्गतिकर्मणो विशिष्टगतिरित्यर्थः। जातिविशेषो वा। देवानवहद् देवत्वमगमयत्प्रजापतित्वात्। देवानां वा वोढाभवत्।

तथा 'हयो भूत्वा' इत्यादि वाक्य भी अश्वकी स्तुतिके ही लिये है। गतिकर्मक 'हि' धातुका रूप 'हय' है, अतः 'हय' का अर्थ विशिष्टगतिमान् है। अथवा 'हय' अश्वकी जातिविशेष है। हय होकर उसने देवताओंको वहन किया अर्थात् प्रजापति होनेके कारण उन्हें देवत्वको प्राप्त कराया; अथवा वह देवताओंका वाहन हुआ।

ननु निन्दैव वाहनत्वम्।

शङ्का—किंतु वाहन होना तो निन्दा ही है [स्तुतिके लिये कैसे कहा?]।

नैष दोषः, वाहनत्वं स्वाभाविकमश्वस्य। स्वाभाविकत्वादुच्छ्रायप्राप्तिर्देवादिसम्बन्धोऽश्वस्येति स्तुतिरेवैषा। तथा वाज्यादयो जातिविशेषाः। वाजी भूत्वा

समाधान—यह कोई दोषकी बात नहीं है, अश्वका वाहन होना तो स्वाभाविक ही है। स्वाभाविक होनेके कारण देवादिसे सम्बन्ध होना तो उच्च पदकी प्राप्ति ही है, अतः यह उसकी स्तुति ही है। इसी प्रकार वाजी आदि भी जाति विशेष हैं। अतः इसका सम्बन्ध इस प्रकार है—वाजी होकर

गन्धर्वानवहदित्यनुषङ्गः। तथार्वा भूत्वासुरान्। अश्वो भूत्वा मनुष्यान्। समुद्र एवेति परमात्मा बन्धुबन्धनं बध्यतेऽस्मिन्निति। समुद्रो योनिः कारणमुत्पत्तिं प्रति। एवमसौ शुद्धयोनिः शुद्धस्थितिरिति स्तूयते। "अप्सु योनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः प्रसिद्ध एव वा समुद्रो योनिः॥ २॥

उसने गन्धर्वोंका वहन किया तथा अर्वा होकर असुरोंका और अश्व होकर मनुष्योंका वहन किया। समुद्र अर्थात् परमात्मा ही इसका बन्धु-बन्धन है, क्योंकि इसीमें यह बाँधा जाता है तथा समुद्र ही योनि यानी इसकी उत्पत्तिमें कारण है। इस प्रकार यह शुद्ध योनि और शुद्ध स्थितिवाला है—ऐसा कहकर इसकी स्तुति की जाती है। अथवा "अश्व जलमें योनिवाला है" इस श्रुतिके अनुसार प्रसिद्ध समुद्र ही इसकी योनि है॥ २॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये
प्रथममश्वमेधब्राह्मणम्॥ १॥



द्वितीय ब्राह्मण

अश्वमेधसम्बन्धी अग्निकी उत्पत्ति

अथाग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्योत्पत्तिरुच्यते। तद्विषयदर्शनविवक्षयैवोत्पत्तिः स्तुत्यर्था।

अब आगे अश्वमेधमें उपयोगी अग्निकी उत्पत्तिका वर्णन किया जाता है। तद्विषयक दृष्टि कहनेकी इच्छासे ही जो उसकी उत्पत्ति कही जाती है वह स्तुतिके लिये है।

नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनायया शनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्च-

न्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्क-स्यार्कत्वं कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥ १ ॥

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। यह सब मृत्युसे ही आवृत था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है। उसने 'मैं आत्मा (मन) से युक्त होऊँ' ऐसा मन किया। उसने अर्चन (पूजन) करते हुए आचमन किया। उसके अर्चन करनेसे आप हुआ। अर्चन करते हुए मेरे लिये क (जल) प्राप्त हुआ है, अतः यही अर्कका[१] अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्कके इस अर्कत्वको जानता है उसे निश्चयक (सुख) होता है॥ १ ॥

नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्। इह संसारमण्डले किञ्चन किञ्चिदपि नामरूपप्रविभक्तविशेषं नैवासीद् न बभूव अग्रे प्रागुत्पत्तेर्मनआदेः।

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। अर्थात् मन आदिकी उत्पत्तिसे पूर्व यहाँ—इस संसारमण्डलमें किञ्चनमात्र—कुछ भी—नाम-रूपमें विभक्त हुआ कोई भी पदार्थविशेष नहीं था।

सत्कारणवाद-साधनम्

किं शून्यमेव स्यात् "नैवेह किञ्चन" इति श्रुतेः। न कार्यं कारणं वासीत्। उत्पत्तेश्च, उत्पद्यते हि घटः, अतः प्रागुत्पत्तेर्घटस्य नास्तित्वम्।

ननु कारणस्य न नास्तित्वं मृत्पिण्डादिदर्शनात्। यन्नोप-

शून्यवादी—तो क्या उस समय शून्य ही था, क्योंकि "यहाँ कुछ भी नहीं था" ऐसी श्रुति है। अतः कार्य या कारण कुछ भी नहीं था। इसके सिवा उत्पत्ति होनेसे भी यही सिद्ध होता है। घट उत्पन्न होता है, इसलिये उत्पत्तिसे पूर्व घटकी सत्ता नहीं होती।

सिद्धान्ती—किंतु कारणका तो अभाव नहीं होता, क्योंकि [घटोत्पत्तिसे पूर्व भी] मृत्पिण्डादि देखे जाते हैं। जो

१ 'अर्चते कम् अर्कम्' अर्थात् जिसके अर्चन करनेवालेको क (जल या सुख) हो उसका नाम अर्क है। इस व्युत्पत्तिसे 'अर्क' अग्निको कहते हैं।

लभ्यते तस्यैव नास्तिता। अस्तु कार्यस्य न तु कारणस्य, उपलभ्यमानत्वात्।

न; प्रागुत्पत्तेः सर्वानुपलम्भात्। अनुपलब्धिश्चेदभावहेतुः सर्वस्य जगतः प्रागुत्पत्तेर्न कारणं कार्यं वोपलभ्यते। तस्मात्सर्वस्यैवाभावोऽस्तु।

न; "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" इति श्रुतेः। यदि हि किञ्चिदपि नासीद् येनाव्रियते यच्चाव्रियते तदा नावक्ष्यत् 'मृत्युनैवेदमावृतम्' इति। न हि भवति गगनकुसुमच्छन्नो वन्ध्यापुत्र इति। ब्रवीति च 'मृत्युनैवेदमावृतमासीत्' इति, तस्माद्येनावृतं कारणेन, यच्चावृतं कार्यं प्रागुत्पत्तेस्तदुभयमासीत्, श्रुतेः प्रामाण्यादनुमेयत्वाच्च।

वस्तु उपलब्ध नहीं होती उसीका अभाव होता है। अतः कार्यका अभाव भले ही रहे कारणका तो अभाव नहीं होता, क्योंकि वह तो उपलब्ध होता ही है।

शून्यवादी—नहीं, क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व तो सभीको उपलब्धि नहीं होती। यदि अनुपलब्धि ही अभावका कारण है तो उत्पत्तिसे पूर्व तो सारे जगत्का कारण या कार्य उपलब्ध नहीं होता। अतः सभीका अभाव होना चाहिये।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ "यह मृत्युसे ही आवृत था" ऐसी श्रुति है। यदि उस समय कुछ भी न होता तो जिससे आवृत होता है और जो आवृत होता है उसके विषयमें श्रुति यह न कहती कि 'यह मृत्युसे ही आवृत था।' वन्ध्यापुत्र आकाश-कुसुमसे आच्छादित होता हो—ऐसा कभी नहीं होता। किंतु श्रुति ऐसा कह रही है कि 'यह मृत्युसे ही आवृत था', अतः जिस कारणसे आवृत था और जो कार्य आवृत था, उत्पत्तिसे पूर्व वे दोनों ही थे, क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण है और ऐसा अनुमान भी किया जा सकता है।

अनुमीयते च प्रागुत्पत्तेः कार्यकारणयोरस्तित्वम्; कार्यस्य हि सतो जायमानस्य कारणे सत्युत्पत्तिदर्शनात्, असति चादर्शनात्। जगतोऽपि प्रागुत्पत्तेः कारणास्तित्वमनुमीयते घटादिकारणास्तित्ववत्।

उत्पत्तिसे पूर्व कार्य और कारणके अस्तित्वका अनुमान भी किया जा सकता है; क्योंकि उत्पन्न होनेवाले सत्य कार्यको ही सत्य कारणमें उत्पत्ति देखी जाती है; असत्यमें नहीं देखी जाती। घटादिके कारणकी सत्ताके समान उत्पत्तिसे पूर्व जगत्‌के कारणकी सत्ताका भी अनुमान किया जा सकता है।[1]

घटादिकारणस्याप्यसत्त्वमेव, अनुपमृद्य मृत्पिण्डादिकं घटाद्यनुत्पत्तेरिति चेत्?

शून्यवादी—किंतु घटादिके कारणकी भी तो सत्ता नहीं है, क्योंकि मृत्पिण्डादिको नष्ट किये बिना घटादिकी उत्पत्ति ही नहीं होती—यदि ऐसा कहें तो?[2]

न; मृदादेः कारणत्वात्। मृत्सुवर्णादि हि तत्र कारणं घटरुचकादेः, न पिण्डाकारविशेषः, तदभावे भावात्। असत्यपि पिण्डाकारविशेषे मृत्सुवर्णादिकारणद्रव्यमात्रादेव घट-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि कारण तो मृत्तिकादि हैं। घट और रुचक (कण्ठभूषण) आदिके कारण तो मृत्तिका और सुवर्णादि हैं, उनका पिण्डाकारविशेष कारण नहीं है, क्योंकि उसका अभाव होनेपर भी उन (मृत्तिकादि) की सत्ता तो रहती ही है। पिण्डाकारविशेषके न रहनेपर भी मृत्तिका और सुवर्णादि कारण-द्रव्यमात्रसे ही घट और

१. इससे कारणकी सत्ताका अनुमान किया जाता है। अनुमानका प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिये—'विमतं सत्पूर्वं कार्यत्वाद् घटवत्' विवादका विषयभूत जगत् सत् (कारण)-पूर्वक है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट।

२. अतः यह (घटरूप) दृष्टान्त साध्यविकल होनेके कारण उक्त अनुमान प्रामाणिक नहीं है।

रुचकादिकार्योत्पत्तिर्दृश्यते। तस्मान्न पिण्डाकारविशेषो घट-रुचकादिकारणम्। असति तु मृत्सुवर्णादिद्रव्ये घटरुचकादिर्न जायत इति मृत्सुवर्णादिद्रव्यमेव कारणम्, नतु पिण्डाकारविशेषः।

रुचकादि कार्यकी उत्पत्ति होती देखी जाती है। अतः घट और रुचकादिका कारण पिण्डाकार विशेष नहीं है। मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्यके अभावमें घट और रुचकादिकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः मृत्तिका और सुवर्णादि द्रव्य ही उनका कारण है, उनका पिण्डाकारविशेष कारण नहीं है।[1]

सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत्पूर्वोत्पन्नस्यात्मकार्यस्य तिरोधानं कुर्वत्कार्यान्तरमुत्पादयति, एकस्मिन्कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्। न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वात्मोपमर्दो भवति। तस्मात्पिण्डाद्युपमर्दे कार्योत्पत्तिदर्शनमहेतुः प्रागुत्पत्तेः कारणासत्त्वे।

सारे ही कारण कार्यकी उत्पत्ति करते समय अपने पूर्वोत्पन्न कार्यका लय करके ही दूसरे कार्यको उत्पन्न करते हैं, क्योंकि एक कारणमें एक साथ अनेक कार्योंकी उत्पत्ति होना विरुद्ध है। किंतु उस पूर्व कार्यका लय होनेसे ही कारणके स्वरूपका लय नहीं होता। अतः पिण्डादिका लय होनेपर कार्यकी उत्पत्ति दिखायी देना उत्पत्तिसे पूर्व कारणकी असत्ताका हेतु नहीं है।

पिण्डादिव्यतिरेकेण मृदादेरसत्त्वादयुक्तमिति चेत्—पिण्डादिपूर्वकार्योपमर्दे मृदादिकारणं नोपमृद्यते, घटादिकार्यान्तरेऽप्यनु-

शून्यवादी—किंतु पिण्डादिसे भिन्न मृत्तिकादिकी कोई सत्ता नहीं है, इसलिये ऐसा कहना अनुचित है। पिण्डादि पूर्व कार्यका लय होनेपर मृदादि कारणका लय नहीं होता, वह घटादि कार्यान्तरमें भी अनुवृत्त रहता

१. इसलिये ऊपर दिये हुए दृष्टान्तमें साध्यवैकल्य दोष नहीं माना जा सकता।

वर्तते इत्येतदयुक्तम्; पिण्ड-घटादिव्यतिरेकेण मृदादि-कारणस्यानुपलम्भादिति चेत्?

है—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि पिण्ड और घटादिसे पृथक् मृत्तिकादि कारणकी उपलब्धि नहीं होती।

न मृदादिकारणानां घटाद्युत्पत्तौ पिण्डादिनिवृत्तावनुवृत्तिदर्शनात्। सादृश्यादन्वयदर्शनं न कारणानुवृत्तेरिति चेन्न, पिण्डादि-गतानां मृदाद्यवयवानामेव घटादौ प्रत्यक्षत्वेऽनुमानाभासात्सादृश्यादि-कल्पनानुपपत्तेः।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि घटादिकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डादिकी निवृत्ति हो जानेपर भी मृत्तिकादि कारणद्रव्योंकी अनुवृत्ति देखी जाती है। यदि कहो कि समानताके कारण उनमें मृत्तिकाका अन्वय देखा जाता है, कारणकी अनुवृत्ति होनेसे नहीं—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि पिण्डादिगत मृत्तिकादि अवयवोंको ही घटादिमें प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिये केवल अनुमानाभाससे सादृश्यादिकी कल्पना करना उचित नहीं है।

न च प्रत्यक्षानुमानयो-र्विरुद्धाव्यभिचारिता, प्रत्यक्षपूर्वकत्वा-दनुमानस्य सर्वत्रैवानाश्वास-प्रसङ्गात्। यदि च क्षणिकं सर्वं तदेवेदमिति गम्यमानं तद्बुद्धे-रप्यन्यतद्बुद्ध्यपेक्षत्वे तस्या

इसके सिवा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंकी अव्यभिचारिता (समञ्जसता) में विरोध भी नहीं होता, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है, इसलिये [उनमें विरोध होनेपर] सभी जगह अविश्वासका प्रसंग हो जायगा। यदि 'तदेवेदम्' (यह वही है) इस प्रकार ज्ञात होनेवाला सब कुछ क्षणिक है तो उस क्षणिकत्वबुद्धिको प्रमाणित करनेके लिये भी तद्विषयक अन्य बुद्धिकी अपेक्षा होगी और उसके लिये दूसरी

अप्यन्यतद्बुद्ध्यपेक्षत्वमित्यनवस्थायां तत्सदृशमिदमित्यस्या अपि बुद्धेर्मृषात्वात्सर्वत्रानाश्वासतैव । तदिदम्बुद्ध्योरपि कर्त्रभावे सम्बन्धानुपपत्तिः।

सादृश्यात्तत्सम्बन्ध इति चेन्न, तदिदम्बुद्ध्योरितरेतरविषयत्वानुपपत्तेः। असति चेतरेतरविषयत्वे

तद्बुद्धिकी इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होनेपर [क्षणिकत्वबुद्धिको स्वतःप्रमाण मानना होगा। ऐसी दशामें] 'यह उसके समान है' यह बुद्धि भी ['तदिदम्' बुद्धिके ही अन्तर्गत होनेसे] मिथ्या होनेके कारण सर्वत्र अविश्वास ही रहेगा।[1] तथा 'तदिदम्' 'यह' और 'वही'—इन बुद्धियोंका भी, कोई कर्ता न होनेके कारण परस्पर सम्बन्ध होना सम्भव नहीं होगा।[2]

यदि कहो कि सदृशताके कारण इनका सम्बन्ध हो सकता है—तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'तत्' 'इदम्'—इन बुद्धियोंका इतरेतर-विषयत्व (भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करना) सिद्ध नहीं होता। जबतक इन बुद्धियोंके

१. 'तत्' (वह) और 'इदम्' (यह) शब्दसे होनेवाले यावन्मात्र वस्तुज्ञानको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं, कोई भी बुद्धि अपने विषयमें स्वतःप्रमाण नहीं होती, उसकी प्रमाणताके लिये अन्य बुद्धिकी अपेक्षा होती है—ऐसा बौद्ध मानते हैं। बौद्धोंके मतमें प्रत्यभिज्ञामात्र क्षणिक है। अतः उनकी मान्यताके अनुसार क्षणिकत्व बुद्धिको भी प्रमाणित करनेके लिये बुद्ध्यन्तरकी अपेक्षा होगी और फिर उस बुद्धिके लिये दूसरी बुद्धिकी, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा; अतः उन्हें क्षणिकत्वादि बुद्धिको स्वतःप्रमाण मानना पड़ेगा। ऐसी दशामें सादृश्य बुद्धि भी प्रत्यभिज्ञा होनेसे क्षणिक ही हुई, इस प्रकार कहीं भी विश्वास न होगा।

२. 'तत्' और 'इदम्' ये दोनों बुद्धियाँ दो क्षणोंमें होती हैं, एक बुद्धि दूसरे क्षणमें रह नहीं सकती, अतः उसके स्वरूपका तिरोधान न हो जाय इसके लिये उन दोनोंका एक कर्ता (द्रष्टा) में सामानाधिकरण्येन सम्बन्ध मानना चाहिये। परंतु क्षणिक विज्ञानवादीके मतमें दो क्षणोंमें रहनेवाला कोई एक द्रष्टा है नहीं; अतः उन बुद्धियोंका सम्बन्ध असम्भव ही है।

सादृश्यग्रहणानुपपत्तिः। असत्येव सादृश्ये तद्बुद्धिरिति चेन्न, तदिदम्बुद्ध्योरपि सादृश्यबुद्धिवदसद्विषयत्वप्रसङ्गात्। असद्विषयत्वमेव सर्वबुद्धीनामस्त्विति चेन्न, बुद्धिबुद्धेरप्यसद्विषयत्वप्रसङ्गात्। तदप्यस्त्विति चेन्न, सर्वबुद्धीनां मृषात्वेऽसत्यबुद्ध्यनुपपत्तेः। तस्मादसदेतत्सादृश्यात्तद्बुद्धिरिति। अतः सिद्धः प्राक्कार्योत्पत्तेः कारणसद्भावः।

विषय भिन्न-भिन्न न हों तबतक इनकी सदृशताका भी ग्रहण नहीं हो सकता। यदि ऐसा मानें कि विषयकी सदृशता न होनेपर भी 'यह वही है' ऐसी बुद्धि होती है तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें सादृश्य-बुद्धिके समान तद् और इदं-बुद्धियाँ भी असद्विषयक [अर्थात् क्षणिक या भ्रान्त] सिद्ध होंगी। यदि कहो कि सभी बुद्धियोंको असद्विषयता (मिथ्यात्व) ही होने दो, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि तब तो बुद्धि-बुद्धिके भी मिथ्या होनेका प्रसंग उपस्थित होगा। यदि कहो, अच्छा ऐसा ही हो, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि इस प्रकार जब सभी बुद्धियाँ मिथ्या होंगी तो असत्यबुद्धिका होना सम्भव नहीं होगा।[1] अतः सादृश्यसे 'यह वही है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है—यह कहना ठीक नहीं है। इसलिये कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व कारणकी सत्ता सिद्ध ही है।

कार्यसद्भावसाधनम्

कार्यस्य चाभिव्यक्तिलिङ्गत्वात्। कार्यस्य च सद्भावः प्रागुत्पत्तेः

कार्यकी भी सत्ता है, क्योंकि वह अभिव्यक्तिरूप लिङ्गवाला है। उत्पत्तिसे पूर्व कार्यकी भी सत्ता सिद्ध होती है। किस प्रकार?— अभिव्यक्तिरूप लिङ्ग-

१. क्योंकि यह सब असत् यानी शून्यरूप है—ऐसा ज्ञान तो सत्य बुद्धिसे ही हो सकता है। सत्ताशून्य बुद्धि असत्का भी ग्रहण कैसे करेगी?

सिद्धः। कथमभिव्यक्तिलिङ्गत्वादभिव्यक्तिर्लिङ्गमस्येति। अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः। यद्धि लोके प्रावृतं तम आदिना घटादिवस्तु तदालोकादिना प्रावरणतिरस्कारेण विज्ञानविषयत्वं प्राप्नुवत्प्राक्सद्भावं न व्यभिचरति। तथेदमपि जगत्प्रागुत्पत्तेरित्यवगच्छामः। न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्ये उपलभ्यते।

न, तेऽविद्यमानत्वाभावादुपलभ्येतैवेति चेत्। न हि तव घटादिकार्यं कदाचिदप्यविद्यमानमित्युदिते आदित्ये उपलभ्येतैव मृत्पिण्डेऽसन्निहिते तमआद्यावरणे चासति विद्यमानत्वादिति चेत्?

वाला होनेसे, क्योंकि अभिव्यक्ति ही कार्यका लिङ्ग है। साक्षात् विज्ञानालम्बनत्वको प्राप्त होनेका नाम 'अभिव्यक्ति' है। लोकमें जो घट आदि पदार्थ अन्धकारादिसे आच्छादित होता है वही उस आवरणका प्रकाशादिसे तिरस्कार होनेपर विज्ञानकी विषयताको प्राप्त होकर अपनी पूर्वकालिक सत्ताका त्याग नहीं करता। इससे हमें मालूम होता है कि इसी प्रकार उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् भी था; क्योंकि जो घट विद्यमान नहीं होता, उसकी उपलब्धि सूर्यके उदित होनेपर भी नहीं होती।

पूर्व०—ऐसी बात नहीं है। यदि तुम्हारे मतमें कार्य अविद्यमान नहीं है तो उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिये। तुम्हारे मतानुसार घटादि कार्य कभी अविद्यमान तो है नहीं, इसलिये जब मृत्पिण्डकी सन्निधि न हो और अन्धकारादिका आवरण भी न हो, उस समय सूर्योदय होनेपर उसकी उपलब्धि होनी ही चाहिये, क्योंकि वह विद्यमान ही है।

न, द्विविधत्वादावरणस्य। घटादिकार्यस्य द्विविधं ह्यावरणं मृदादेरभिव्यक्तस्य तमःकुड्यादि प्राङ्मदोऽभिव्यक्तेर्मृदाद्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तररूपेण संस्थानम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्यैव घटादिकार्यस्य आवृतत्वादनुपलब्धिः। नष्टोत्पन्नभावाभावशब्दप्रत्ययभेदस्तु अभिव्यक्तितिरोभावयोर्द्विविधत्वापेक्षः।

पिण्डकपालादेरावरणवैलक्षण्यादयुक्तमिति चेत्? तमःकुड्यादि हि घटाद्यावरणं घटादिभिन्नदेशं दृष्टं न तथा घटादिभिन्नदेशे दृष्टे पिण्डकपाले। तस्मात् पिण्डकपालसंस्थानयोर्विद्यमानस्यैव घटस्यावृतत्वाद् अनुपलब्धि-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आवरण दो प्रकारका है। मृत्तिकादिसे अभिव्यक्त होनेवाले घटादि कार्यका आवरण दो प्रकारका है-(१) अन्धकार और भित्ति आदि तथा (२) मृत्तिकासे घटकी अभिव्यक्ति होनेसे पूर्व उस मृत्तिकादिके अवयवोंका पिण्डादि कार्यान्तरके रूपमें स्थित रहना। अतः उत्पत्तिसे पूर्व घटादि विद्यमान कार्यकी ही, आवृत होनेके कारण, उपलब्धि नहीं होती। नष्ट होना, उत्पन्न होना, रहना, न रहना इत्यादि शब्द और प्रत्ययोंका भेद तो अभिव्यक्ति और तिरोभाव इनकी द्विविधताकी अपेक्षासे है।

पूर्व०—किंतु पिण्ड और कपालादि तो आवरणसे भिन्न प्रकारके होते है, इसलिये उन्हें आवरण कहना उचित नहीं है। अन्धकार और भित्ति आदि जो घटादिके आवरण हैं, वे तो घटादिसे भिन्न देशमें देखे जाते हैं, किंतु इस प्रकार पिण्ड और कपाल घटादिसे भिन्न देशमें नहीं देखे जाते। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि पिण्ड और कपालके संस्थान (स्वरूप)-में विद्यमान ही घटादिकी आवृत होनेके

रित्ययुक्तम् आवरणधर्मवैलक्षण्यादिति चेत्?

कारण उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि आवरणके धर्मोंसे उनमें विलक्षणता है—यदि ऐसा कहें तो?

न, क्षीरोदकादेः क्षीराद्यावरणेनैकदेशत्वदर्शनात्। घटादिकार्ये कपालचूर्णाद्यवयवानामन्तर्भावादनावरणत्वमिति चेन्न, विभक्तानां कार्यान्तरत्वादावरणत्वोपपत्तेः।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दूधमें मिले हुए जलादिकी अपने आवरण दुग्धादिके साथ एकदेशता देखी जाती है। यदि कहो कि घटादि कार्यमें उसके कपाल एवं चूर्णादि अवयवोंका अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये उनका आवरण है ही नहीं—तो यह ठीक नहीं, क्योंकि विभक्त होनेपर कार्यान्तर होनेके कारण उन्हें आवरण मानना ठीक ही है।

आवरणाभाव एव यत्नः कर्तव्य इति चेत्? पिण्डकपालावस्थयोर्विद्यमानमेव घटादिकार्यमावृतत्वान्नोपलभ्यत इति चेद् घटादिकार्यार्थिना तदावरणविनाश एव यत्नः कर्तव्यो न घटाद्युत्पत्तौ; न चैतदस्ति, तस्मादयुक्तं विद्यमानस्यैवावृतत्वादनुपलब्धिरिति चेत्?

पूर्व०—तब तो आवरणकी निवृत्ति करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। यदि तुम्हारे कथनानुसार पिण्ड और कपालकी अवस्थाओंमें वर्तमान घटादि कार्य ही आवृत होनेके कारण उपलब्ध नहीं होता तब तो जिसे घटादि कार्यकी आवश्यकता हो उसे उसके आवरणका नाश करनेका ही यत्न करना चाहिये, घटादिकी उत्पत्तिका नहीं; किंतु ऐसा किया नहीं जाता, इसलिये यह कहना उचित नहीं है कि आवृत होनेके कारण विद्यमान घटादिकी ही उपलब्धि नहीं होती—ऐसा कहें तो?

न अनियमात्। न हि विनाशमात्रप्रयत्नादेव घटाद्यभिव्यक्तिर्नियता। तमआद्यावृते घटादौ प्रदीपाद्युत्पत्तौ प्रयत्नदर्शनात्।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि यह नियम नहीं है। आवरणके विनाशमात्रका प्रयत्न करनेसे ही घटादिकी उत्पत्ति हो जायगी—ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि अन्धकारादिसे आवृत घटादिके प्रकाशके लिये प्रदीप आदिकी उत्पत्तिमें प्रयत्न देखा जाता है।

सोऽपि तमोनाशायैवेति चेत्? दीपाद्युत्पत्तावपि यः प्रयत्नः सोऽपि तमस्तिरस्करणाय तस्मिन्नष्टे घटः स्वयमेवोपलभ्यते। न हि घटे किञ्चिदाधीयते इति चेत्?

पूर्व०—किंतु वह प्रयत्न भी तो अन्धकारनाशके लिये ही होता है। दीपकादिकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह भी अन्धकारकी निवृत्तिके ही लिये होता है; उसकी निवृत्ति होनेपर घट स्वयं ही दिखायी देने लगता है। इससे घटमें कोई बात बढ़ायी नहीं जाती—ऐसा मानें तो?

न, प्रकाशवतो घटस्योपलभ्यमानत्वात्। यथा प्रकाशविशिष्टो घट उपलभ्यते प्रदीपकरणे न तथा प्राक्प्रदीपकरणात्। तस्मान्न तमस्तिरस्कारायैव प्रदीपकरणं किं तर्हि? प्रकाशवत्त्वाय। प्रकाशवत्त्वेनैवोपलभ्यमानत्वात्। क्वचि-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रकाशयुक्त घटकी ही उपलब्धि होती है। जिस प्रकार दीपक तैयार करनेपर प्रकाशयुक्त घटकी उपलब्धि होती है, उस प्रकार दीपक तैयार होनेसे पूर्व उसकी उपलब्धि नहीं होती। अतः अन्धकारकी निवृत्तिके लिये ही दीपक नहीं जलाया जाता, तो और किसलिये जलाया जाता है? प्रकाशके लिये, क्योंकि प्रकाशयुक्त होनेपर ही वस्तुकी उपलब्धि होती है। कहीं-कहीं

दावरणविनाशेऽपि यत्नः स्यात्, यथा कुड्यादिविनाशे। तस्मान्न नियमोऽस्त्यभिव्यक्त्यर्थिनावरण-विनाश एव यत्नः कार्य इति।

नियमार्थवत्त्वाच्च। कारणे वर्तमानं कार्यं कार्यान्तराणामावरण-मित्यवोचाम। तत्र यदि पूर्वाभि-व्यक्तस्य कार्यस्य पिण्डस्य व्यव-हितस्य वा कपालस्य विनाश एव यत्नः क्रियेत, तदा विदलचूर्णाद्यपि कार्यं जायेत। तेनाप्यावृतो घटो नोपलभ्यत इति पुनः प्रयत्नान्तरापेक्षैव। तस्माद् घटाद्यभिव्यक्त्यर्थिनो नियत एव कारकव्यापारोऽर्थवान्। तस्मा-त्प्रागुत्पत्तेरपि सदेव कार्यम्।

अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च। अतीतो घटोऽनागतो घट इत्येत-

आवरणका नाश करनेके लिये भी यत्न किया जाता है; जैसे भीत आदिका नाश करनेके लिये। अतः पदार्थकी अभिव्यक्तिके इच्छुकको आवरणके नाशका ही प्रयत्न करना चाहिये—ऐसा कोई नियम नहीं है।

इसके सिवा नियत व्यापारकी सफलताके लिये भी प्रयत्न करना आवश्यक है। पहले बता चुके हैं कि कारणमें विद्यमान कार्य अन्य कार्यका आवरण होता है। ऐसी अवस्थामें यदि पहले अभिव्यक्त हुए कार्य पिण्डके अथवा व्यवधानयुक्त कपालके नाशका ही प्रयत्न किया जायगा तो उनसे कपालिका (ठोकरी) या चूर्णादि कार्यकी ही उत्पत्ति होगी। उससे आवृत होनेपर भी घटकी उपलब्धि नहीं होगी, इसलिये पुनः प्रयत्नान्तरकी अपेक्षा रहेगी ही। अतः घटादिकी अभिव्यक्तिके इच्छुकका नियत कारकव्यापार (कर्ता-कारण इत्यादि रूपसे किया हुआ प्रयत्न) ही सफल होता है। इसलिये उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य विद्यमान ही है।

भूत और भविष्यत् प्रतीतियोंके भेदसे भी कार्यकी सत्ता सिद्ध होती है।

योश्च प्रत्यययोर्वर्तमानघटप्रत्ययवन्न निर्विषयत्वं युक्तम्; अनागतार्थिप्रवृत्तेश्च। न ह्यसत्यर्थितया प्रवृत्तिर्लोके दृष्टा। योगिनां चातीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वात्। असंश्चेद्भविष्यद्घट ऐश्वरम्भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात् न च प्रत्यक्षमुपचर्यते।

भूत घट, भविष्यद् घट इन प्रत्ययोंका भी वर्तमान घटप्रत्ययके समान विषयशून्य होना उचित नहीं है, क्योंकि भवष्यिद् घटकी इच्छावाले पुरुषकी प्रवृत्ति देखी जाती है। असत्पदार्थकी इच्छासे लोकमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। इसके सिवा योगियोंका भूत और भविष्यत्सम्बन्धी ज्ञान तो सत्य ही होता है। यदि भावी घट असत् माना जाय तो ईश्वरका भावी घटसम्बन्धी प्रत्यक्ष ज्ञान भी मिथ्या होगा; किंतु प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता।

घटसद्भावे ह्यनुमानमवोचाम। विप्रतिषेधाच्च। यदि घटो भविष्यतीति कुलालादिषु व्याप्रियमाणेषु घटार्थं प्रमाणेन निश्चितं येन च कालेन घटस्य सम्बन्धो भविष्यतीत्युच्यते, तस्मिन्नेव काले घटोऽसन्निति विप्रतिषिद्धमभिधीयते। भविष्यन्घटोऽसन्निति, न भविष्यतीत्यर्थः। अयं घटो न वर्तत इति यद्वत्।

इसके सिवा घटकी सत्तामें हमने अनुमानप्रमाण भी दिया है। तथा उसकी सत्ता न माननेसे विरोध भी आता है। यदि घटके लिये प्रवृत्त हुए कुम्हार आदिको प्रमाणसे यह निश्चय हो गया है कि घट होगा तो जिस कालसे 'घटका सम्बन्ध होगा' ऐसा कहा जाता है उसी कालमें 'घट नही है' ऐसा कथन तो विपरीत ही है। 'भविष्यद् घट असत् है' इसका अर्थ तो यही है कि 'घट उत्पन्न नहीं होगा' जैसे कहा जाय कि 'यह घट विद्यमान नहीं है।'

अथ प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्नित्युच्येत, घटार्थं प्रवृत्तेषु कुलालादिषु

और यदि यह कहा जाय कि उत्पत्तिसे पूर्व घट असत् है, और इस 'असत्' शब्दका यह अर्थ हो कि

तत्र यथा व्यापाररूपेण वर्तमानास्तावत्कुलालादयः, तथा घटो न वर्तत इत्यसच्छब्दस्यार्थश्चेन्न विरुध्यते। कस्मात्? स्वेन हि भविष्यद्रूपेण घटो वर्तते। न हि पिण्डस्य वर्तमानता कपालस्य वा घटस्य भवति। न च तयोर्भविष्यत्ता घटस्य। तस्मात्कुलालादिव्यापारवर्तमानतायां प्रागुत्पत्तेर्घटोऽसन्निति न विरुध्यते। यदि घटस्य यत्स्वं भविष्यत्ताकार्यरूपं तत्प्रतिषिध्येत, तत्प्रतिषेधे विरोधः स्यात्। न तु तद्भवान्प्रतिषेधति। न च सर्वेषां क्रियावतां कारकाणामेकैव वर्तमानता भविष्यत्त्वं वा।

कुम्हार आदिके घटके लिये प्रवृत्त होनेपर जिस प्रकार उस अवस्थामें व्यापाररूपसे कुम्हार आदि विद्यमान हैं उस प्रकार घट नहीं है—तो इसमें कोई विरोध नहीं आता। क्यों नहीं आता? क्योंकि अपने भावीरूपसे तो घट विद्यमान है ही। पिण्ड या कपालकी वर्तमानता घटकी नहीं हो सकती और घटकी भविष्यत्ता उन (पिण्ड और कपाल) की नहीं हो सकती। अतः कुम्हार आदिके व्यापारकी वर्तमानतामें 'उत्पत्तिसे पूर्व घट असत् है' ऐसा कहना भी विरुद्ध नहीं है। किंतु घटका जो भविष्यत्ता[1] कार्यरूप स्वरूप है उसका यदि प्रतिषेध किया जाय तो उसके निषेध करनेपर ही विरोध होगा। सो उसका तो आप निषेध करते नहीं हैं। तथा सम्पूर्ण क्रियावान् कारकोंकी एक ही वर्तमानता या भविष्यत्ता होती हो—ऐसी बात है नहीं।

अपि च चतुर्विधानामभावानां घटस्येतरेतराभावो घटादन्यो दृष्टो यथा घटाभावः पटादिरेव न घटस्वरूपमेव। न च घटाभावः

इसके सिवा चार प्रकारके अभावोंमें[2] घटका जो अन्योन्याभाव है वह घटसे भिन्न ही देखा जाता है, जैसे घटाभाव पटादि ही है घटका स्वरूप नहीं है। तथा घटाभाव होनेसे

१. भविष्यमें प्रकट होनेका भाव ही भविष्यत्ता है।

२. प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—ये अभावके चार भेद हैं।

सन्पटोऽभावात्मकः, किं तर्हि? भावरूप एव। एवं घटस्य प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावानामपि घटादन्यत्वं स्यात्। घटेन व्यपदिश्यमानत्वाद् घटस्येतरेतराभाववत्। तथैव भावात्मकताभावानाम्। एवं च सति घटस्य प्रागभाव इति न घटस्वरूपमेव प्रागुत्पत्तेर्नास्ति।

ही पट अभावरूप नहीं हो जाता; तो फिर क्या होता है? वह भावरूप ही रहता है। इसी प्रकार घटके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव भी घटसे भिन्न ही हैं, क्योंकि घटके अन्योन्याभावके समान घटके द्वारा इनका उल्लेख किया जाता है। और उस [घटके अन्योन्याभाव पटको भावरूपता] के ही समान इन अभावोंकी भी भावरूपता है। ऐसा होनेसे 'घटका प्रागभाव है' इस कथनसे यह सिद्ध नहीं होता कि उत्पत्तिसे पूर्व घटका स्वरूप ही नहीं है।

अथ घटस्य प्रागभाव इति घटस्य यत्स्वरूपं तदेवोच्येत घटस्येतिव्यपदेशानुपपत्तिः। अथ कल्पयित्वा व्यपदिश्येत शिलापुत्रकस्य शरीरमिति यद्वत्, तथापि घटस्य प्रागभाव इति कल्पित-

और यदि 'घटका प्रागभाव' इस कथनमें घटका जो स्वरूप है वही कहा जाय तो 'घटका' यह कथन ही नहीं बन सकता।[1] यदि 'शिलाके पुतलेका शरीर' इस कथनके अनुसार कल्पना करके ऐसा कहा जाय तो भी 'घटका प्रागभाव' इस कथनसे 'घट' शब्दद्वारा कल्पित घटका ही अभाव कहा जायगा,

---

उत्पत्तिसे पूर्व जो वस्तुका अभाव होता है उसे प्रागभाव कहते हैं; जैसे घटकी उत्पत्तिसे पूर्व उसका अभाव। वस्तुके नाशके पश्चात् उसका प्रध्वंसाभाव होता है; जैसे घट फूट जानेपर उसका अभाव। दो वस्तुओंमेंसे प्रत्येकमें एक-दूसरीका अभाव अन्योन्याभाव है; जैसे घटमें पटका और पटमें घटका। त्रिकालाबाधित अभाव अत्यन्ताभाव है; जैसे शशशृङ्गादिका।

१. क्योंकि षष्ठीविभक्तिबोध्य सम्बन्ध भिन्न पदार्थोंमें ही होता है और तुम प्रागभावको घटका स्वरूप ही बतलाते हो।

स्यैवाभावस्य घटेन व्यपदेशो न घटस्वरूपस्यैव। अथार्थान्तरं घटाद् घटस्याभाव इति, उक्तोत्तरमेतत्।

घटके स्वरूपका नहीं।[1] और यदि घटसे घटाभावको भिन्न पदार्थ माना जाय तो इसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है।[2]

किञ्चान्यत्प्रागुत्पत्तेः शशविषाणवदभावभूतस्य घटस्य स्वकारणसत्तासम्बन्धानुपपत्तिः, द्विनिष्ठात्वात्सम्बन्धस्य। अयुतसिद्धानामदोषइति चेन्न, भावाभावयोरयुतसिद्धत्वानुपपत्तेः। भावभूतयोर्हि युतसिद्धतायुतसिद्धता वा स्यान्न तु भावाभावयोरभावयोर्वा।

एक बात और भी है, उत्पत्तिसे पूर्व शशशृङ्गके समान अभावरूप घटका अपने कारणकी सत्तासे सम्बन्ध होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध तो दोमें ही रहा करता है। यदि कहो कि अयुतसिद्ध पदार्थोंमें ऐसा दोष नहीं आता[3] तो यह ठीक नहीं, क्योंकि भाव और अभावका अयुतसिद्ध होना सम्भव नहीं है। जो पदार्थ भावरूप होते हैं उन्हींकी युतसिद्धता या अयुतसिद्धता हो सकती है, भाव और अभाव अथवा दो अभावोंकी नहीं।

---

१. अर्थात् यदि कहो कि जैसे शिलाका पुतला और उसका शरीर ये एक ही हैं तो भी 'राहुके सिर' के समान उनमें षष्ठीसम्बन्ध कहा जाता है, उसी प्रकार घट या प्रागभावका भी कल्पित अभेद हो सकता है—तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि भावपदार्थोंमें तो ऐसे कल्पित सम्बन्धका व्यपदेश हो सकता है, किंतु अभाव सापेक्ष होता है, उसे अपने प्रतियोगीकी अपेक्षा होती है, इसलिये उसका उसके साथ अभेद नहीं हो सकता। अतः घटप्रागभाव घटका स्वरूप नहीं हो सकता।

२. 'इसी प्रकार घटके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव भी घटसे भिन्न ही हैं' इस वाक्यसे इसका उत्तर दिया गया है।

३. परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले जिन दो पदार्थोंकी अलग-अलग प्रतीति होती है वे युतसिद्ध कहलाते हैं, जैसे घड़ा और रस्सी; तथा जिनकी अलग-अलग प्रतीति नहीं होती अर्थात् जिनमेंसे किसी भी एकको छोड़कर दूसरेकी प्रतीति नहीं होती वे अयुतसिद्ध कहलाते हैं। कार्य और कारण अयुतसिद्ध होते हैं; जैसे घट और मृत्तिका।

तस्मात्सदेव कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति सिद्धम्।

अतः यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्तिसे पूर्व कार्य सिद्ध हुआ कि उत्पत्तिसे पूर्व कार्य सत् ही है।

किँल्लक्षणेन मृत्युनावृतमित्यत आह—अशनायया अशितुमिच्छा अशनाया सैव? मृत्योर्लक्षणं तया लक्षितेन मृत्युनाशनायया। कथमशनाया मृत्युः? इत्युच्यते—अशनाया हि मृत्युः। हिशब्देन प्रसिद्धं हेतुमवद्योतयति। यो ह्यशितुमिच्छति सोऽशनायानन्तरमेव हन्ति जन्तून्, तेनासावशनायया लक्ष्यते मृत्युरित्यशनाया हीत्याह।

यह सब किस लक्षणवाले मृत्युसे आवृत था? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—अशनायासे। अशन (भोजन) की इच्छाका नाम 'अशनाया' है, वही उस मृत्युका लक्षण है; उससे लक्षित जो मृत्यु है उस अशनायासे [यह सब आवृत था]। अशनाया मृत्यु किस प्रकार है? सो बतलाया जाता है—अशनाया ही मृत्यु है। यहाँ 'हि' शब्दसे श्रुति प्रसिद्ध हेतु प्रकट करती है, क्योंकि जो कोई भोजन करना चाहता है वह भोजनकी इच्छा होनेके पीछे ही जीवोंको मारता है। अतः 'अशनाया' शब्दसे यह मृत्यु लक्षित होती है, इसीसे 'अशनाया हि' ऐसा कहा गया है।

बुद्ध्यात्मनोऽशनाया धर्म इति स एष बुद्ध्यवस्थो हिरण्यगर्भो मृत्युरित्युच्यते। तन्मृत्युनेदं कार्यमावृतमासीत्। यथा पिण्डावस्थया मृदा घटादय आवृताः स्युरिति तद्वत्। तन्मनो-

अशनाया विज्ञानात्माका धर्म है, अतः बुद्धिमें स्थित हिरण्यगर्भ ही मृत्यु कहा गया है। उस मृत्युसे यह कार्यवर्ग आवृत था। जिस प्रकार पिण्डावस्थामें वर्तमान मृत्तिकासे घटादि आवृत रहते हैं उसी प्रकार [हिरण्यगर्भरूप मृत्युसे यह व्याकृत जगत् व्याप्त था]।

ऽकुरुत। तदिति मनसो निर्देशः। स प्रकृतो मृत्युर्वक्ष्यमाणकार्य-सिसृक्षया तत्कार्यालोचनक्षमं मनः-शब्दवाच्यं संकल्पादिलक्षणमन्तः-करणमकुरुत कृतवान्।

'तन्मनोऽकुरुत' इसमें 'तत्' यह शब्द मनका निर्देश करनेवाला है। अर्थात् उस प्रकृत मृत्युने आगे कहे जानेवाले कार्यको रचनेकी इच्छासे उस कार्यकी आलोचना करनेमें समर्थ मनः-शब्दवाच्य संकल्पादि लक्षणोंवाला अन्तःकरण किया।

केनाभिप्रायेण मनोऽकरोत्? इत्युच्यते—आत्मन्वी आत्मवान् स्यां भवेयम्। अहमनेनात्मना मनसा मनस्वी स्यामित्यभिप्रायः। स प्रजापतिरभिव्यक्तेन मनसा समनस्कः सन्नर्चन्नर्चयन्पूजयन् आत्मानमेव कृतार्थोऽस्मीत्यचरच्चरणमकरोत्। तस्य प्रजापतेरर्चतः पूजयत आपो रसात्मिकाः पूजाङ्गभूता अजायन्तोत्पन्नाः।

किस अभिप्रायसे मन किया? सो बतलाया जाता है—मैं आत्मन्वी अर्थात् आत्मवान् होऊँ। तात्पर्य यह है कि मैं इस आत्मा यानी मनसे मनस्वी होऊँ। उस प्रजापतिने अभिव्यक्त हुए मनसे मनोयुक्त हो अर्चन-पूजन करते हुए अपने प्रति ही 'मैं कृतार्थ हूँ' इस प्रकार आचरण किया। उस प्रजापतिके अर्चन-पूजन करते समय पूजाके अङ्गभूत रसात्मक आप (जल) उत्पन्न हुए।

अत्राकाशप्रभृतीनां त्रयाणा-मुत्पत्त्यनन्तरमिति वक्तव्यम्, श्रुत्यन्तरसामर्थ्याद्विकल्पासम्भवाच्च सृष्टिक्रमस्य। अर्चते पूजां कुर्वते वै मे मह्यं कमुदकमभू-दित्येवममन्यत यस्मान्मृत्युः, तदेव तस्मादेव हेतोरर्कस्य अग्ने-

यहाँ जलकी उत्पत्ति आकाशादि (आकाश, वायु और अग्नि) तीन भूतोंकी उत्पत्तिके पीछे हुई ऐसा कहना चाहिये था, क्योंकि अन्य श्रुतिके सामर्थ्यसे यही सिद्ध होता है और सृष्टिक्रमका विकल्प होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि मृत्युने ऐसा माना था कि अर्चन यानी पूजा करते हुए मेरे लिये क—जल हुआ है, इसीसे अर्थात्

रश्वमेधक्रत्वौपयोगिकस्यार्कत्वम् अर्कत्वे हेतुरित्यर्थः। अग्नेरर्कनामनिर्वचनमेतत्। अर्चनात्सुखहेतुपूजाकरणाद् अप्सम्बन्धाच्च अग्नेरेतद्गौणं नामार्क इति।

इस कारणसे अर्क यानी अश्वमेधयज्ञमें उपयोगी अग्निका अर्कत्व है, अर्थात् यही उसके अर्कत्वमें हेतु है। यह अग्निके अर्क नामकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह है कि अर्चनसे यानी सुखकी हेतुभूता पूजा करनेसे तथा जलका सम्बन्ध होनेसे अग्निका (अर्क) यह गौण (गुणकृत) नाम है।

य एवं यथोक्तमर्कस्यार्कत्वं वेद जानाति। कमुदकं सुखं वा नामसामान्यात्। ह वा इत्यवधारणार्थौ। भवत्येवेति। अस्मै एवंविदे एवंविदर्थं भवति॥ १॥

जो कोई इस प्रकार उपर्युक्त अर्कका अर्कत्व जानता है उसे क—जल या सुख होता है, क्योंकि 'क' यह जल और सुखका समान नाम है। 'ह' और 'वै' ये निश्चयार्थक निपात हैं। अर्थात् उसके लिये जल या सुख होता ही है। इसे—इस प्रकार जाननेवालेको अर्थात् इस प्रकार जाननेवालेके लिये [जल या सुख] होता है॥ १॥



जलसे विराट्-रूप अग्निकी उत्पत्ति

कः पुनरसावर्कः? इत्युच्यते—

यह अर्क कौन है? सो बतलाया जाता है—

आपो वा अर्कस्तद्यदपाः शर आसीत्तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्ततताग्निः॥ २॥

आप (जल) ही अर्क हैं। उस जलका जो शर (स्थूलभाग) था वह एकत्रित हो गया। वह पृथिवी हो गयी। उसके उत्पन्न होनेपर वह [मृत्यु] थक गया। उस

थके और तपे हुए प्रतापतिके शरीरसे उसका सारभूत तेज अग्नि प्रकट हुआ॥ २॥

आपो वै या अर्चनाङ्गभूतास्ता एवार्कोऽग्नेरर्कस्य हेतुत्वात्। अप्सु चाग्निः प्रतिष्ठित इति। न पुनः साक्षादेवार्कस्ताः, तासामप्रकरणात्, अग्नेश्च प्रकरणम्। वक्ष्यति च 'अयमग्निरर्कः' (बृह० उ० १। २। ७) इति।

निश्चय ही जल जो अर्चनका अङ्गभूत है वही अर्क है, क्योंकि वह अर्कसंज्ञक अग्निका हेतु है। कारण, जलमें ही अग्नि प्रतिष्ठित है। किंतु वह साक्षात् अर्क नहीं है, क्योंकि यहाँ उसका प्रकरण नहीं है; यह तो अग्निका ही प्रकरण है। 'यह अग्नि अर्क है' ऐसा श्रुति कहेगी भी।

तत्तत्र यदपां शर इव शरो दध्न इव मण्डभूतमासीत्तत्समहन्यत सङ्घातमापद्यत तेजसा बाह्यान्तपच्यमानम्। लिङ्गव्यत्ययेन वा योऽपां शरः स समहन्यतेति। सा पृथिव्यभवत्स संघातो येयं पृथिवी साभवत्। ताभ्योऽद्भ्योऽण्डमभिनिर्वृत्तमित्यर्थः।

वहाँ उस जलका जो शरके समान शर अर्थात् दहीके मण्ड (घृतपिण्ड) के समान स्थूल भाग था वह संहत हो गया। अर्थात् बाहर और भीतरसे तेजके द्वारा परिपक्व होता हुआ वह इकट्ठा हो गया। अथवा 'यत्'का लिङ्गव्यत्यय कर 'यः अपां शरः' जो जलका शर (स्थूलभाग) था वह एकत्रित हो गया—ऐसा अर्थ करना चाहिये। वह पृथिवी हो गयी, अर्थात् वह संघात, यह जो पृथिवी है वही हो गयी। तात्पर्य यह है कि उस जलसे यह ब्रह्माण्ड निष्पन्न हो गया।

तस्यां पृथिव्यामुत्पादितायां स मृत्युः प्रजापतिरश्राम्यच्छ्रमयुक्तो बभूव। सर्वो हि लोकः

उस पृथिवीके उत्पन्न होनेपर वह मृत्यु यानी प्रजापति श्रान्त—श्रमयुक्त हो गया, क्योंकि कार्य करके सभी लोग श्रान्त हो जाते हैं और

कार्यं कृत्वा श्राम्यति। प्रजापतेश्च तन्महत्कार्यं यत्पृथिवीसर्गः।

किं तस्य श्रान्तस्य? इत्युच्यते तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य खिन्नस्य तेजोरसस्तेज एव रसस्तेजोरसो रसः सारो निरवर्तत प्रजापति-शरीरान्निष्क्रान्त इत्यर्थः। कोऽसौ निष्क्रान्तः? अग्निः। सोऽण्डस्यान्तर्विराट् प्रजापतिः प्रथमजः कार्यकरण-संघातवान् जातः। ''स वै शरीरी प्रथमः'' इति स्मरणात्॥ २॥

पृथिवीकी रचना करना—यह प्रजापतिका बड़ा भारी कार्य था।

उस थके हुए प्रजापतिका क्या हुआ? सो बतलाया जाता है—उस श्रान्त—तपे हुए अर्थात् खेदको प्राप्त हुए प्रजापतिका जो तेजोरस था, तेज ही जो रस है उसका नाम 'तेजोरस' है, रस सारको कहते हैं, वह निर्वर्तित हुआ अर्थात् प्रजापतिके शरीरसे बाहर निकल आया। यह कौन निकला? अग्नि। वह इस अण्डेके भीतर प्रथम उत्पन्न हुआ कार्यकरणसंघातवान् विराट् प्रजापति हुआ, क्योंकि इस विषयमें ''वही प्रथम शरीरी है'' यह स्मृति प्रमाण है॥ २॥



विराट्-रूप अग्निके अवयवोंमें प्राचीदिगादि-दृष्टि

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मो। अथास्य प्रतीची दिक्पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ। दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः। स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतिष्ठित्येवं विद्वान्॥ ३॥

उसने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया। उसने आदित्यको तीसरा भाग किया और वायुको तीसरा। इस प्रकार यह प्राण तीन भागोंमें हो गया। उसका पूर्व दिशा सिर है तथा इधर-उधरकी (ईशानी और आग्नेयी)

विदिशाएँ बाहु हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशा इसका पुच्छ है तथा इधर-उधरकी (वायव्य और नैर्ऋत्य) विदिशाएँ जङ्घाएँ हैं। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व हैं, द्युलोक पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष उदर है, यह (पृथिवी) हृदय है। यह (अग्निरूप विराट् प्रजापति) जलमें स्थित है। इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष जहाँ-कहीं जाता है वहीं प्रतिष्ठित होता है॥ ३॥

स च जातः प्रजापतिस्त्रेधा त्रिप्रकारमात्मानं स्वयमेव कार्यकरणसंघातं व्यकुरुत व्यभजदित्येतत्। कथं त्रेधा? इत्याह—आदित्यं तृतीयमग्निवाय्वपेक्षया त्रयाणां पूरणम् अकुरुतेत्यनुवर्तते। तथाग्न्यादित्यापेक्षया वायुं तृतीयम्। तथा वाय्वादित्यापेक्षयाग्निं तृतीयमिति द्रष्टव्यम्। सामर्थ्यस्य तुल्यत्वात्त्रयाणां संख्यापूरणत्वे।

उत्पन्न हुए उस प्रजापतिने भूत और इन्द्रियसंघातरूप अपनेको स्वयं ही त्रिधा—तीन प्रकारसे विकृत यानी विभक्त किया। किस प्रकार त्रिधा विभक्त किया? सो बतलाते हैं—उसने अग्नि और वायुकी अपेक्षा आदित्यको तीसरा बनाया; अर्थात् तीन संख्याओंका पूरक बनाया। इस वाक्यकी अनुवृत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि और आदित्यकी अपेक्षा वायुको तृतीय बनाया तथा वायु और आदित्यकी अपेक्षा अग्निको तृतीय बनाया—ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि तीनकी संख्याको पूर्ण करनेमें इन तीनोंहीकी शक्ति समान है।

स एष प्राणः सर्वभूतानामात्मापि अग्निवाय्वादित्यरूपेण विशेषतः स्वेनैव मृत्य्वात्मना

सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा होनेपर भी यह प्राण विशेषतः अपने मृत्युरूपसे ही, न कि अपने विराट् स्वरूपका लय करके, अग्नि, वायु और आदित्यरूपमें तीन प्रकारका

त्रेधा विहितो विभक्तो न विराट्स्वरूपोपमर्दनेन। तस्यास्य प्रथमजस्याग्नेरश्वमेधोपयोगिकस्यार्कस्य विराजश्चित्यात्मकस्य अश्वस्येव दर्शनमुच्यते। सर्वा हि पूर्वोक्तोत्पत्तिरस्य स्तुत्यर्थेत्यवोचाम—इत्थमसौ शुद्धजन्मेति।

तस्य प्राची दिक्शिरो विशिष्टत्वसामान्यात्। असौ चासौ चैशान्याग्नेय्यौ ईर्मौ बाहू। ईरयतेर्गतिकर्मणः। अथास्याग्नेः प्रचीती दिक्पुच्छं जघन्यो भागः, प्राङ्मुखस्य प्रत्यग्दिक्सम्बन्धाद्। असौ चासौ च वायव्यनैर्ऋत्यौ सक्थ्यौ सक्थिनी पृष्ठकोणत्वसामान्यात्। दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे उभयदिक्सम्बन्धसामान्यात्।

हो गया; अर्थात् तीन रूपोंमें विभक्त हो गया। उस प्रथम उत्पन्न हुए इस अग्निकी—अश्वमेधकर्ममें उपयोगी अर्ककी अर्थात् चितिस्वरूप विराट्की यह अश्वके समान दृष्टि कही जाती है। हमने पूर्वमें इसकी जो उत्पत्ति बतलायी है, वह सब स्तुतिके ही लिये है यह बात कह चुके हैं। अर्थात् इस प्रकार यह शुद्धजन्मा है—ऐसा बतलानेके लिये है।

विशिष्टतामें समान होनेके कारण पूर्व दिशा उसका सिर है। यह और यह अर्थात् ईशानी और आग्नेयी विदिशाएँ ईर्म—भुजाएँ हैं। गत्यर्थक 'ईर्' धातुसे 'ईर्म' शब्द सिद्ध होता है। तथा इस अग्निकी पश्चिम दिशा पुच्छ यानी निम्नभाग है, क्योंकि पूर्वकी ओर मुखवाला होनेसे पश्चिम दिशासे पुच्छका सम्बन्ध है। यह और यह अर्थात् वायव्य और नैर्ऋत्य कोण सक्थियाँ (जङ्घाएँ) हैं, क्योंकि पृष्ठभागके कोण होनेमें उनके साथ उनकी समानता है। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्वभाग हैं, क्योंकि इन दोनों दिशाओंसे सम्बन्ध होनेमें पार्श्वोंकी समानता है।

द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमिति पूर्ववत्। इयमुरः अधोभागसामान्यात्।

तथा द्युलोक पीठ और अन्तरिक्ष उदर है—ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये और अधोभागमें समानता होनेके कारण यह (पृथिवी) हृदय है।

स एषोऽग्निः प्रजापतिरूपो लोकाद्यात्मकोऽग्निरप्सु प्रतिष्ठितः "एवमिमे लोका अप्स्वन्तः" इति श्रुतेः। यत्र क्व च यस्मिन्कस्मिंश्चिदेति गच्छति तदेव-तत्रैव प्रतितिष्ठति स्थितिं लभते। कोऽसौ? एवं यथोक्तमप्सु प्रतिष्ठित-त्वमग्नेर्विद्वान्विजानन् गुणफलमेतत्॥३॥

"इस प्रकार ये लोक जलके भीतर हैं" इस श्रुतिके अनुसार वह यह लोकादि स्वरूप प्रजापतिरूप अग्नि जलमें स्थित है। [इस उपासनाका फल—] वह जहाँ कहीं—जिस किसी देशमें जाता है तदेव—वहाँ ही [अर्थात् उसी स्थानपर] प्रतिष्ठित होता-स्थिति प्राप्त करता है। ऐसा कौन है? इस प्रकार उपर्युक्त रीतिसे अग्निका जलमें स्थित होना जाननेवाला। यह इस उपासनाका गौण फल है॥३॥



संत्वत्सर और वाक्की उत्पत्ति

योऽसौ मृत्युः सोऽबादिक्रमेणात्मनात्मानम् अण्डस्यान्तः-कार्यकरणसंघातवन्तं विराजमग्निमसृजत, त्रेधा चात्मानमकुरुतेत्युक्तम्। स किंव्यापारः सन्नसृजत? इत्युच्यते—

यह जो मृत्यु था उसने स्वयं ही अपनेको ब्रह्माण्डके अंदर जलादिके क्रमसे कार्यकरणसंघातवान् विराट् अग्निके रूपमें रचा और अपनेको तीन भागोंमें विभक्त किया—यह पहले कहा जा चुका है। उसने क्या व्यापार करते हुए यह रचना की? सो बतलाया जाता है—

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स

संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत्॥ ४॥

उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो; अतः उस अशनायारूप मृत्युने मनसे वेदरूप मिथुनकी भावना की। उससे जो रेत (बीज) हुआ, वह संवत्सर हुआ। इससे पूर्व संवत्सर नहीं था। उस संवत्सरको, जितना संवत्सरका काल होता है, उतने समयतक वह (मृत्युरूप प्रजापति) गर्भमें धारण किये रहा। इतने समयके पीछे उसने उसको उत्पन्न किया। उस उत्पन्न हुए कुमारके प्रति मुख फाड़ा। इससे उसने 'भाण्' ऐसा शब्द किया। वही वाक् हुआ॥ ४॥

स मृत्युरकामयत कामितवान्। किम्? द्वितीयो मे ममात्मा शरीरं येनाहं शरीरी स्यां स जायेतोत्पद्येत इत्येवमेतदकामयत। स एवं कामयित्वा मनसा पूर्वोत्पन्नेन वाचं त्रयीलक्षणां मिथुनं द्वन्द्वभावं समभवत्सम्भवनं कृतवान्मनसा त्रयीमालोचितवान्। त्रयीविहितं सृष्टिक्रमं मनसान्वालोचयदित्यर्थः कोऽसौ? अशनायया लक्षितो मृत्युः। अशनाया मृत्युरित्युक्तम्। तमेव

उस मृत्युने कामना की। क्या कामना की? मेरा दूसरा आत्मा यानी शरीर, जिससे मैं शरीरधारी होऊँ, उत्पन्न हो—इस प्रकार उसने कामना की। इस प्रकार कामनापर उसने पहले उत्पन्न हुए मनसे वेदत्रयीरूपा वाणीकी मिथुन-द्वन्द्वभावसे भावना की। अर्थात् मनके द्वारा वेदत्रयीकी आलोचना की। वेदत्रयीविहित सृष्टिक्रमका मनसे विचार किया—ऐसा इसका तात्पर्य है। यह कौन था? अशनाया (क्षुधा) से लक्षित मृत्यु। 'अशनाया मृत्यु है' ऐसा कहा जा चुका है। श्रुति उसीका

परामृशत्यन्यत्र प्रसङ्गो मा भूदिति।

यहाँ परामर्श (उल्लेख) करती है, जिससे किसी अन्यका प्रसंग न हो जाय।

तद्यद्रेत आसीत् तत्तत्र मिथुने यद्रेत आसीत्, प्रथमशरीरिण: प्रजापतेरुत्पत्तौ कारणं रेतो बीजं ज्ञानकर्मरूपम्, त्रय्यालोचनायां यद्दृष्टवानासीज्जन्मान्तरकृतम्; तद्भावभावितोऽप: सृष्ट्वा तेन रेतसा बीजेनाप्स्वनुप्रविश्य अण्डरूपेण गर्भीभूत: ससंवत्सरोऽभवत्, संवत्सरकालनिर्माता संवत्सर: प्रजापतिरभवन्। न ह, पुरा पूर्वम्, ततस्तस्मात्संवत्सरकालनिर्मातु: प्रजापते:, संवत्सर: कालो नाम नास न बभूव ह।

उससे जो रेत हुआ—उस मिथुनसे जो रेत हुआ, प्रथमशरीरी प्रजापतिसे उत्पत्तिमें हेतुभूत जो रेत यानी बीज हुआ, अर्थात् वेदकी आलोचना करनेपर उसने जो जन्मान्तरकृत ज्ञानकर्मरूप बीज देखा उस बीजभावसे भावित होकर जलकी रचना कर उस रेतरूप बीजके द्वारा जलमें प्रवेश कर अण्डरूपसे गर्भस्थ रह वह संवत्सर हुआ। अर्थात् वह संवत्सररूप कालका निर्माता संवत्सर प्रजापति हुआ। उस संवत्सरकाल-निर्माता प्रजापतिसे पूर्व संवत्सरनामक काल नहीं था।

तं संवत्सरकालनिर्मातारमन्तर्गर्भं प्रजापतिम्, यावानिह प्रसिद्ध: काल एतावन्तमेतावत्संवत्सरपरिमाणं कालमबिभ: भृतवान्मृत्यु:। यावान्संवत्सर इह प्रसिद्ध:, तत: परस्तात्किं कृतवान्? तमेतावत: कालस्य संवत्सरमात्रस्य परस्ताद् ऊर्ध्वमसृजत सृष्टवान्, अण्डमभिनदित्यर्थ:, तमेवं कुमारं जातमग्निं

उस संवत्सरकालनिर्माता गर्भस्थ प्रजापतिको, जितना कि यह प्रसिद्ध काल है उतने समयतक अर्थात् एक संवत्सरव्यापी कालतक मृत्युने धारण किया; जितना इस लोकमें संवत्सर प्रसिद्ध है [उतने समयतक गर्भमें रखा]। इसके पीछे उसने क्या किया? इतने यानी संवत्सरमात्र कालके पश्चात् उसने उसकी रचना की अर्थात् उस अण्डेको फोड़ दिया। क्षुधायुक्त होनेके कारण

प्रथमशरीरिणम्, अशनायावत्त्वान्मृत्युरभिव्याददान्मुखविदारणं कृतवानत्तुम्; स च कुमारो भीतः स्वाभाविक्याविद्यया युक्तो भाणित्येवं शब्दमकरोत्। सैव वागभवत्, वाक्-शब्दोऽभवत्॥ ४॥

मृत्युने इस प्रकार उत्पन्न हुए उस प्रथमशरीरी कुमार अग्निके प्रति, उसे खानेके लिये, मुँह फाड़ा। उस कुमारने स्वाभाविकी अविद्यासे युक्त होनेके कारण डरकर 'भाण्' ऐसा शब्द किया। वही वाक् हुआ, वाक् यानी शब्द हुआ॥ ४॥



ऋगादिकी उत्पत्ति और मृत्युके अत्तृत्वका उपन्यास

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳसर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान्प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्। सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद॥ ५॥

उसने विचार किया, 'यदि मैं इसे मार डालूँगा तो यह थोड़ा-सा ही अन्न [भोजन] करूँगा।' अतः उसने उस वाणी और उस मनके द्वारा इन सबको रचा, जो कुछ भी ये ऋक्, यजुः, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा और पशु हैं। उसने जिस-जिसकी रचना की उसी-उसीको खानेका विचार किया। वह सबको खाता है, यही उस अदितिका अदितित्व है। जो इस प्रकार इस अदितिके अदितित्वको जानता है वह इस सबका अत्ता (भोक्ता) होता है और यह सब उसका अन्न होता है॥ ५॥

स ऐक्षत—स एवं भीतं कृतरवं कुमारं दृष्ट्वा मृत्युरैक्षतेक्षितवान् अशनायावानपि—यदि कदाचिद्वा इमं

उसने विचार किया-इस प्रकार डरकर शब्द करनेवाले उस कुमारको देखकर मृत्युने क्षुधायुक्त होनेपर भी विचार किया-यदि कदाचित् मैं इस

कुमारमभिमंस्ये—अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसार्थः—हिंसिष्य इत्यर्थः; कनीयोऽन्नं करिष्ये कनीयोऽल्पमन्नं करिष्य इति।

कुमारको मार डालूँगा-'अभिपूर्वक 'मन' धातुका अर्थ हिंसा होता है-अतः 'अभिमंस्ये' का अर्थ 'मार डालूँगा' ऐसा होगा, तो मैं कनीय अन्न करूँगा; कनीय यानी बहुत ही थोड़ा अन्न भोजन करूँगा।

एवमीक्षित्वा तद्भक्षणादुपरराम बहु ह्यन्नं कर्तव्यं दीर्घकालभक्षणाय न कनीयः। तद्भक्षणे हि कनीयोऽन्नं स्याद्बीजभक्षण इव सस्याभावः। स एवम्प्रयोजनमन्नबाहुल्यमालोच्य तयैव त्रय्या वाचा पूर्वोक्तया तेनैव चात्मना मनसा मिथुनीभावमालोचनमुपगम्योपगम्येदं सर्वं स्थावरं जङ्गमं चासृजत यदिदं किञ्च यत्किञ्चेदम्। किं तत्? ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांसि च सप्त गायत्र्यादीनि स्तोत्रशस्त्रादिकर्माङ्गभूतांस्त्रिविधान् मन्त्रान्गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टान् यज्ञांश्च तत्साध्यान्प्रजास्तत्कर्त्रीः पशूंश्च ग्राम्यानारण्यान्कर्मसाधनभूतान्।

ऐसा सोचकर वह उसे भक्षण करनेसे रुक गया, [और सोचने लगा कि] बहुत समयतक खानेके लिये मुझे बहुत-सा अन्न [संग्रह] करना चाहिये, थोड़ा-सा नहीं। जिस प्रकार बीजको खा लेनेपर अनाज नहीं होता उसी प्रकार इसे खानेसे तो मेरे लिये थोड़ा-सा ही अन्न होगा। ऐसे उद्देश्यसे अन्नकी बहुलताके लिये विचारकर उसने उस पूर्वोक्त त्रयीरूपा वाणीसे तथा उसी आत्मा यानी मनसे मिथुनीभाव अर्थात् आलोचनाको प्राप्त हो-होकर यह जो कुछ है उस सारे स्थावर और जङ्गम जगत्की रचना की। वह क्या है? ऋक्, यजुः, साम, गायत्री आदि सात छन्द यानी गायत्री आदि छन्दोंसे युक्त स्तोत्र-शस्त्रादि कर्मोंके अङ्गभूत तीन प्रकारके मन्त्र, उससे सम्पन्न होनेवाले यज्ञ, उन्हें करनेवाली प्रजा तथा कर्मके साधनभूत ग्राम्य और वन्य पशु [इन सबको रचा]।

ननु त्रय्या मिथुनी-

शंका—किंतु पहले तो कहा गया

भूतयासृजतेत्युक्तम्, ऋगादीनीह कथमसृजतेति?

नैष दोषः, मनसस्त्वव्यक्तोऽयं मिथुनीभावस्त्रय्या, बाह्यस्तु ऋगादीनां विद्यमानामेव कर्मसु विनियोगभावेन व्यक्तीभावः सर्ग इति।

स प्रजापतिरेवमन्नवृद्धिं बुद्ध्वा यद्यदेव क्रियां क्रियासाधनं फलं वा किञ्चिदसृजत तत्तदत्तुं भक्षयितुमध्रियत धृतवान्मनः। सर्वं कृत्स्नं वै यस्मादत्तीति तत्तस्माददितेरदितिनाम्नो मृत्योरदितित्वं प्रसिद्धम्। तथा च मन्त्रः-"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता" (यजुः० सं० २५। २३) इत्यादिः।

सर्वस्यैतस्य जगतोऽन्नभूतस्यात्ता सर्वात्मनैव भवत्यन्यथा विरोधात्। न हि कश्चित्सर्वस्यैकोऽत्ता दृश्यतेतस्मात्सर्वात्मा भवतीत्यर्थः।

था कि मिथुनीभूत त्रयीरूपा वाणीसे उसने रचना की, फिर उसके द्वारा उसने ऋगादिको कैसे रचा?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। मनका जो त्रयीके साथ मिथुनीभाव है वह तो अव्यक्त है। उन [अव्यक्तरूपसे] विद्यमान ऋगादिका ही कर्ममें विनियोगरूपसे जो बाह्य व्यक्तीभाव है वही उनकी रचना है।

उस प्रजापतिने इस प्रकार अन्नकी वृद्धि होती जानकर जिस-जिस भी क्रिया या क्रियाके साधनभूत फलकी रचना की उसी-उसीको भक्षण करनेके लिये मनमें विचार किया। इस प्रकार क्योंकि वह सभीको भक्षण करता है, इसलिये उस अदिति अर्थात् अदिति-नामक मृत्युका अदितित्व प्रसिद्ध है। इस विषयमें यह मन्त्र प्रमाण है—"अदिति द्युलोक है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है और वही पिता है" इत्यादि।

इस अन्नभूत सम्पूर्ण जगत्का वह सर्वात्मभावसे ही अत्ता (भक्षण करनेवाला) है क्योंकि बिना सर्वात्म-भावके सबका अत्ता होनेमें विरोध आता है। कोई भी एक सबका अत्ता हो, ऐसा देखा नहीं जाता; इसलिये

सर्वमस्यान्नं भवति; अत एव सर्वात्मनो ह्यत्तुः सर्वमन्नं भवतीत्युपपद्यते। य एवमेतद्यथोक्तमदितेर्मृत्योः प्रजापतेः सर्वस्य अदनाददितित्वं वेद तस्यै तत् फलम्॥ ५॥

तात्पर्य यह है कि [इस प्रकार उपासना करनेवाला] वह सर्वात्मा हो जाता है। सब कुछ उसका अन्न हो जाता है, अतः जो सर्वात्मभावसे अत्ता है उसीका सब कुछ अन्न होना सम्भव है। यह फल उसे मिलता है जो इस प्रकार इस उपर्युक्त अदितिसंज्ञक मृत्यु प्रजापतिका सबका अदन (भक्षण) करनेसे अदितित्व जानता है॥ ५॥



प्रजापतिकी यज्ञकामना और उसके प्राण एवं वीर्यका निष्क्रमण

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत्। प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत्॥ ६॥

उसने यह कामना की कि मैं पुनः बड़े भारी यज्ञसे यजन करूँ। इससे वह श्रमित हो गया। उसने तप किया। उस श्रमित और तपे हुए मृत्युका यश और वीर्य निकल गया। प्राण ही यश और वीर्य हैं। तब प्राणोंके निकल जानेपर शरीरने फूलना आरम्भ किया। किंतु उसका मन शरीरमें ही रहा॥ ६॥

सोऽकामयतेत्यश्वाश्वमेधयोर्निर्वचनार्थमिदमाह—भूयसा महता यज्ञेन भूयः पुनरपि यजेयेति। जन्मान्तरकरणापेक्षया भूयःशब्दः।

'सोऽकामयत' इत्यादि वाक्यसे श्रुति अश्व और अश्वमेधका निर्वचन करनेके लिये यह कहती है—मैं पुनः महान् यज्ञसे यजन करूँ। यहाँ जन्मान्तरमें यज्ञानुष्ठान करनेकी अपेक्षासे 'भूयस्' (महान्) शब्द दिया है।

स प्रजापतिः जन्मान्तरेऽश्वमेधेनायजत। स तद्भावभावित एव कल्पादौ व्यावर्तत। सोऽश्वमेधक्रियाकारकफलात्मत्वेन निर्वृत्तः सन्नकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। एवं महत्कार्यं कामयित्वा लोकवदश्राम्यत्।

स तपोऽतप्यत। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्येति पूर्ववत्, यशो वीर्यमुदक्रामदिति। स्वयमेव पदार्थमाह—प्राणाश्चक्षुरादयो वै यशो यशोहेतुत्वात् तेषु हि सत्सु ख्यातिर्भवति, तथा वीर्यं बलमस्मिञ्शरीरे। न ह्युत्क्रान्तप्राणो यशस्वी बलवान्वा भवति। तस्मात्प्राणा एव यशो वीर्यं चास्मिञ्शरीरे। तदेवं प्राणलक्षणं यशो वीर्यमुदक्रामदुत्क्रान्तवत्।

तदेवं यशोवीर्यभूतेषु प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरान्निष्क्रान्तेषु तच्छरीरं प्रजापतेः श्वयितुमुच्छूनभावं

उस प्रजापतिने जन्मान्तरमें अश्वमेध यज्ञद्वारा यजन किया था। इसलिये उसकी भावनासे युक्त हुआ ही वह कल्पके आरम्भमें प्रजापति हुआ। अश्वमेधके क्रिया, कारक और फलरूपसे सम्पन्न होकर उसने कामना की कि मैं पुनः महान् यज्ञद्वारा यजन करूँ। इस प्रकार महान् कार्यके लिये कामना करके वह अन्य लोगोंके समान श्रमित हो गया।

उसने तप किया। उस श्रान्त और तपे हुएका—ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये—यश और वीर्य निकल गया। अब श्रुति स्वयं ही [यश और वीर्य] पदोंका अर्थ बतलाती है। चक्षु आदि जो प्राण हैं वे ही यशके हेतु होनेके कारण यश हैं क्योंकि उनके रहनेपर ही ख्याति होती है। तथा वे ही इस शरीरमें वीर्य यानि बल हैं। जिसके प्राण निकल गये हैं वह पुरुष यशस्वी या बलवान् नहीं होता। अतः इस शरीरमें प्राण ही यश और वीर्य हैं। वे इस प्रकारके प्राणरूप यश और वीर्य निकल गये।

तब इस प्रकार यश और वीर्यभूत प्राणोंके उत्क्रमण करनेपर अर्थात् शरीरसे निकन जानेपर प्रजापतिके उस

गन्तुमध्रियतामेध्यं चाभवत् तस्य प्रजापतेः शरीरान्निर्गतस्यापि तस्मिन्नेव शरीरे मन आसीद्यथा कस्यचित्प्रिये विषये दूरं गतस्यापि मनो भवति तद्वत्॥ ६ ॥

शरीरने श्वयन—उच्छूनता (फूलनारूप विकार) को प्राप्त होना आरम्भ किया; अर्थात् वह अमेध्य (अपवित्र) हो गया। किंतु जिस प्रकार किसी प्रिय वस्तुके दूर हो जानेपर भी उसीमें मन रहता है वैसे ही शरीरसे निकल जानेपर भी उस प्रजापतिका मन उस शरीरमें ही रहा॥ ६ ॥



अश्वमेधोपासना और उसका फल

स तस्मिन्नेव शरीरे गतमनाः सन्किमकरोत्? इत्युच्यते—

उस शरीरमें ही जिसका मन लगा हुआ है ऐसे उस प्रजापतिने क्या किया? सो बतलाया जाता है—

सोऽकामयत मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुध्यैवामन्यत। तꣳ संवत्सरस्यपरस्तादात्मन आलभत। पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत्। तस्मात् सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मायमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेता-वर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति॥ ७ ॥

उसने कामना की, मेरा यह शरीर मेध्य (यज्ञिय) हो, मैं इसके द्वारा शरीरवान् होऊँ; क्योंकि वह शरीर अश्वत् अर्थात् फूल गया था, इसलिये वह अश्व हो गया और वह मेध्य हुआ। अत: यही अश्वमेधका अश्वमेधत्व है। जो इसे इस प्रकार जानता है वही अश्वमेधको जानता है। उसने उसे अवरोधरहित (बन्धनशून्य) ही चिन्तन किया। उसने संवत्सरके पश्चात् उसका अपने ही लिये [अर्थात् इसका देवता प्रजापति है—ऐसे भावसे] आलभन किया तथा तथा अन्य पशुओंको भी देवताओंके प्रति पहुँचाया। अत: याज्ञिकलोग मन्त्रद्वारा संस्कार किये हुए सर्वदेवसम्बन्धी प्राजापत्य पशुका आलभन करते हैं। यह जो [सूर्य] तपता है वही अश्वमेध है। उसका संवत्सर शरीर है, यह अग्नि अर्क है तथा उसके ये लोक आत्मा हैं। ये ही दोनों (अग्नि और आदित्य) अर्क और अश्वमेध हैं। किंतु वे मृत्युरूप एक ही देवता हैं। जो इस प्रकार जानता है वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है, उसे मृत्यु नहीं पा सकता, मृत्यु उसका आत्मा हो जाता है तथा वह इन देवताओंमेंसे ही एक हो जाता है॥ ७॥

सोऽकामयत, कथम्? मेध्यं मेधार्हं यज्ञियं मे ममेदं शरीरं स्यात्। किञ्च आत्मन्व्यात्मवांश्चानेन शरीरेण शरीरवान्स्यामिति प्रविवेश। यस्मात्तच्छरीरं तद्वियोगाद्गतयशोवीर्यं सद् अश्वद् अश्वयत् ततस्तस्मादश्वः समभवत्। ततोऽश्वनामा प्रजापतिरेव साक्षादिति स्तूयते। यस्माच्च पुनस्तत्प्रवेशाद्गतयशोवीर्यत्वादमेध्यं सन्मेध्यमभूत्तदेव तस्मादेवाश्वमेध-

उसने कामना की। किस प्रकार?— मेरा यह शरीर मेध्य—यज्ञिय हो जाय। तथा मैं आत्मन्वी—आत्मवान् अर्थात् इस शरीरसे शरीरवान् हो जाऊँ। ऐसा विचारकर उसने उसमें प्रवेश किया। क्योंकि वह शरीर उसके वियोगसे यशोवीर्यहीन होकर अश्वत्— अश्वयत् अर्थात् फूल गया था, अत: उससे अश्व उत्पन्न हुआ। इसीसे अश्व नामका साक्षात् प्रजापति ही है—इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है। क्योंकि उसके पुन: प्रवेशसे वह यशोवीर्यहीन और अमेध्य होनेपर भी मेध्य हो गया

स्याश्वमेधनाम्ना: क्रतोरश्वमेधत्वम्-अश्वमेधनामलाभ:। क्रियाकारक-फलात्मको हि क्रतु:। स च प्रजापतिरेवेति स्तूयते।

था इसीसे अश्वमेधका यानी अश्व-मेधनामक यज्ञका अश्वमेधत्व है; अर्थात् उसे 'अश्वमेध' नाम मिला है। यज्ञ क्रिया, कारक और फलरूप होता है, अत: 'वह प्रजापति ही है' ऐसा कहकर उसकी स्तुति की जाती है।

क्रतुनिर्वर्तकस्याश्वस्य प्रजा-पतित्वमुक्तम् 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य' इत्यादिना। तस्यैवाश्वस्य मेध्यस्य प्रजापतिस्वरूपस्याग्नेश्च यथोक्तस्य क्रतुफलात्मरूपतया समस्योपासनं विधातव्यमित्यारभ्यते। पूर्वत्र क्रियापदस्य विधायक-स्याश्रुतत्वात् क्रियापदापेक्षत्वाच्च प्रकरणस्य अयमर्थोऽवगम्यते।

'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर:' इत्यादि वाक्यसे यज्ञ-निर्वाहक अश्वका प्रजापतित्व कहा गया। अब उसी प्रजापतिरूप मेध्य अश्वकी और यज्ञफलरूपसे उसीके समान उपर्युक्त अग्निकी उपासनाका विधान करना है, इसलिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। पहले श्रुतिवाक्यमें विधिबोधक क्रियापदका श्रवण नहीं हुआ है और [उपासन-सम्बन्धी वाक्योंमें] क्रियापदकी अपेक्षा होती है; इसलिये इस प्रकरणका यह अर्थ जाना जाता है।[1]

---

१. यद्यपि पहले 'य एवमेतददितेरदितित्वं वेद' ऐसा विधायक वाक्य आया है, परंतु वह प्रकरण अश्वमेधोपासनाका है, इसलिये वह मुख्य वाक्य नहीं है। अत: उस अभावकी पूर्ति करनेके लिये वहाँ श्रुति 'एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद' इस प्रकार साक्षाद्रूपसे उसका विधान करती है।

एष ह वा अश्वमेधं क्रतुं वेद य एनमेवं वेद, यः कश्चिदेनमश्वमग्निरूपमर्कं च यथोक्तमेवं वक्ष्यमाणेन समासेन प्रदर्श्यमानेन विशेषणेन विशिष्टं वेद, स एषोऽश्वमेधं वेद नान्यः। तस्मादेवं वेदितव्य इत्यर्थः।

जो इसे इस प्रकार जानता है, निश्चय वही अश्वमेधको जानता है। जो कोई भी इस अश्वको और ऊपर बतलाये हुए अग्निरूप अर्कको आगे कहे जानेवाले संक्षिप्तरूपसे प्रदर्शित विशेषणसे विशिष्ट जानता है वही अश्वमेधको जानता है, कोई दूसरा नहीं। अतः तात्पर्य यह है कि इसे इसी प्रकार जानना चाहिये।

कथम्? तत्र पशुविषयमेव तावद्दर्शनमाह। तत्र प्रजापतिर्भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति कामयित्वा आत्मानमेव पशुं मेध्यं कल्पयित्वा तं पशुमनवरुध्यैवोत्सृष्टं पशुमवरोधमकृत्वैव मुक्तप्रग्रहममन्यताचिन्तयत्। तं संवत्सरस्य पूर्णस्य परस्तादूर्ध्वमात्मने आत्मार्थमालभत—प्रजापतिदेवताकत्वेनेत्येतत्—आलभतालम्भं कृतवान्। पशून्न्यान्ग्राम्यानारण्यांश्च देवताभ्यो यथादैवतं प्रत्यौहत्प्रतिगमितवान्।

किस प्रकार जानना चाहिये? सो इस विषयमें पहले श्रुति पशुविषयक दृष्टिका ही निरूपण करती है। प्रजापतिने ऐसी इच्छा करके कि मैं पुनः बड़े भारी यज्ञसे यजन करूँ, अपनेहीको यज्ञिय पशु कल्पना कर उस पशुका अनवरोध कर उसे छूटा हुआ माना अर्थात् उसकी रोक-टोक न करते हुए उसे बन्धनहीन चिन्तन किया। फिर पूरे एक संवत्सरके पीछे उसे अपने ही लिये आलभन किया अर्थात् प्रजापति देवता-सम्बन्धी पशुरूपसे उसका आलभन किया; तथा अन्य देवताओंको भी तत्तद्देवसम्बन्धी अन्यान्य ग्राम्य एवं वन्य पशु प्राप्त कराये।

यस्माच्चैवं प्रजापतिरमन्यत तस्मादेवमन्योऽप्युक्तेन विधिनात्मानं पशुमश्वं मेध्यं कल्पयित्वा

क्योंकि प्रजापतिने ऐसा माना था, इसलिये दूसरे यज्ञकर्ताको भी उपर्युक्त विधिसे ही अपनेको यज्ञिय अश्व मानकर

—सर्वदेवत्योऽहं प्रोक्ष्यमाण आलभ्यमानस्त्वहं मद्देवत्य एव स्याम्, अन्य इतरे पशवो ग्राम्यारण्या यथादैवतमन्याभ्यो देवताभ्य आलभ्यन्ते मदवयवभूताभ्य एव—इतिविद्यात्। अत एवेदानीं सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते याज्ञिकाः।

'मैं वेदमन्त्रोंद्वारा अभिषिक्त होकर सर्वदेवसम्बन्धी होता हूँ, किंतु आलभन किये जानेपर केवल अपने ही देवताके लिये होऊँ; तथा दूसरे ग्राम्य और वन्य पशु, अन्यान्य देवताओंके अनुसार मेरे ही अवयवभूत विभिन्न देवोंके लिये आलभन किये जाते हैं—ऐसा जाने। इसीलिये आजकल याज्ञिकलोग समस्त देवताओंके लिये [मन्त्रोंद्वारा] अभिषिक्त किये हुए प्रजापतिसम्बन्धी पशुका आलभन करते हैं।

'एवमेष ह वा अश्वमेधो य एष तपति'—यस्त्वेवं पशुसाधनकः क्रतुः स एष साक्षात्फलभूतो निर्दिश्यत एष ह वा अश्वमेधः। कोऽसौ? य एव सविता तपति जगदवभासयति तेजसा। तस्यास्य क्रतुफलात्मनः संवत्सरः कालविशेषः, आत्मा शरीरं तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य।

'एवमेष ह वा अश्वमेधो य एष तपति' इसकी व्याख्या की जाती है—इस प्रकार यह जो पशुद्वारा साध्य क्रतु है वही 'एष ह वा अश्वमेधः' इस वाक्यसे साक्षात् फलस्वरूपसे बतलाया जाता है। वह कौन-सा है? जो कि सूर्य तपता अर्थात् अपने तेजसे जगत्को प्रकाशित करता है। उस इस यज्ञफलरूप सूर्यका संवत्सर—कालविशेष आत्मा यानी शरीर है, क्योंकि उसीके द्वारा संवत्सर निष्पन्न होता है।[1]

तस्यैव क्रत्वात्मनः, अग्नि-

उस यज्ञात्माका साधनभूत यह

१. क्योंकि सूर्यके उदयास्तके दिन-रातके द्वारा संवत्सर होता है। यहाँतक अश्वमेधकी सूर्यरूपता बतलाकर अब उसके साधनभूत अग्निका सूर्यत्व बतलाया जाता है।

साध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुत्वरूपेणैव निर्देशः, अयं पार्थिवोऽग्निरर्कः साधनभूतः। तस्य चार्कस्य क्रतौ चित्यस्येमे लोकास्त्रयो-ऽप्यात्मानः शरीरावयवाः। तथा च व्याख्यातं 'तस्य प्राची दिक्' इत्यादिना। तावग्न्यादित्यावेतौ यथाविशेषितावर्काश्वमेधौ क्रतु-फले। अर्को यः पार्थिवोऽग्निः स साक्षात्क्रतुरूपः क्रियात्मकः। क्रतोरग्निसाध्यत्वात्तद्रूपेणैव निर्देशः। क्रतुसाध्यत्वाच्च फलस्य क्रतुरूपेणैव निर्देश आदित्योऽश्वमेध इति।

पार्थिव अग्नि अर्क है; यज्ञफल अग्निसाध्य है, इसलिये उसका यज्ञरूपसे निर्देश किया गया है। यज्ञमें चयन किये जानेवाले उस अर्कके तीनों लोक आत्मा-शरीरके अवयव हैं। इसीसे 'उसका पूर्वदिशा शिर है' इत्यादि वाक्यसे उसकी व्याख्या की गयी है। वे ये अग्नि और आदित्य ऊपर दिये हुए विशेषणके अनुसार अर्क और अश्वमेध क्रमशः यज्ञ और फल हैं। अर्क जो पार्थिव अग्नि है वह साक्षात् क्रियात्मक यज्ञरूप है। यज्ञ अग्निसाध्य है, इसलिये अग्निरूपसे ही उसका निर्देश किया जाता है। तथा फल यज्ञसाध्य है इसलिये 'आदित्य अश्वमेध है' इस प्रकार यज्ञरूपसे ही उसका निर्देश किया जाता है।

तौ साध्यसाधनौ क्रतुफल-भूतावग्न्यादित्यौ, सा उ पुनर्भूय एकैव देवता भवति। का सा? मृत्युरेव। पूर्वमप्येकैवासीत्क्रिया-साधनफलभेदाय विभक्ता। तथा चोक्तम् "स त्रेधात्मानं व्यकुरुत" (बृ० उ० १। २। ३) इति। सा पुनरपि क्रियानिर्वृत्त्युत्तरकाल-

वे यज्ञ एवं फलभूत अग्नि और आदित्य साध्य और साधन हैं। वे भी आपसमें मिलकर पुनः—फिर भी एक ही देवता है। यह एक देव कौन है? वह मृत्यु है। पहले भी वह (मृत्युदेवता) एक ही था, क्रियाके साधन और फलभेदके लिये उसका विभाग हो गया। ऐसा ही कहा भी है—"उसने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया" इत्यादि। वह फिर भी अर्थात् क्रियानिष्पत्तिके उत्तरकालमें

मेकैव देवता भवति मृत्युरेव फलरूपः।

भी एक ही देवता अर्थात् फलस्वरूप मृत्यु ही हो जाता है।

यः पुनरेवमेनमश्वमेधं मृत्युमेकां देवतां वेद। अहमेव मृत्युरस्म्यश्वमेध एका देवता मद्रूपा अश्वाग्निसाधन-साध्येति सोऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा पुनर्मरणाय न जायत इत्यर्थः। अपजितोऽपि मृत्युरेनं पुनराप्नुयादित्याशङ्क्याह—नैनं मृत्युराप्नोति। कस्मात्? मृत्युरस्य एवंविद आत्मा भवति। किञ्च मृत्युरेव फलरूपः सन्नेतासां देवतानामेको भवति। तस्यैतत् फलम्॥ ७॥

जो इस प्रकार इस अश्वमेधको मृत्युरूप एक देवता जानता है अर्थात् मैं ही अश्वमेधरूप मृत्यु हूँ—अग्नि और अश्वरूप साधनसे सिद्ध होनेवाली एक देवता मेरा ही रूप है—ऐसी जो उपासना करता है वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है। तात्पर्य यह है कि एक बार मरकर वह पुनः मरनेके लिये उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार परास्त हो जानेपर भी मृत्यु इसे पुनः प्राप्त कर लेगा—ऐसी आशङ्का करके श्रुति कहती है—इसे मृत्यु पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। क्यों? क्योंकि इस प्रकार जाननेवालेका मृत्यु आत्मा हो जाता है। बल्कि मृत्यु ही फलरूप होकर इन देवताओंमेंसे कोई एक हो जाता है। उस उपासकको यही फल प्राप्त होता है॥ ७॥



इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयमग्निब्राह्मणम्॥ २॥



तृतीय ब्राह्मण



द्वया हेत्याद्यस्य कः सम्बन्धः? कर्मणां ज्ञानसहितानां परा गतिरुक्ता मृत्य्वात्मभावोऽश्वमेधगत्युक्त्या। अथेदानीं मृत्य्वात्मभावसाधनभूतयोः कर्मज्ञानयोर्यत उद्भवस्तत्प्रकाशनार्थमुद्गीथब्राह्मणमारभ्यते।

'द्वया ह' इत्यादि वाक्यसे आरम्भ होनेवाले इस ब्राह्मणका पूर्वब्राह्मणसे क्या सम्बन्ध है?—यहाँतक अश्वमेधकी गति (फल) बतानेके द्वारा ज्ञानसहित कर्मोंकी मृत्युरूपताकी प्राप्तिरूप परागति बतलायी गयी है। अब आगे मृत्युस्वरूपताके साधनभूत कर्म और ज्ञानका जिससे उदय होता है उसका प्रकाशन करनेके लिये उद्गीथ ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है।

प्रकरण-सम्बन्धः

ननु मृत्य्वात्मभावः पूर्वत्र ज्ञानकर्मणोः फलमुक्तम्। उद्गीथज्ञानकर्मणोस्तु मृत्य्वात्मभावातिक्रमणं फलं वक्ष्यति अतो भिन्नविषयत्वात्फलस्य न पूर्वकर्मज्ञानोद्भवप्रकाशनार्थमिति चेत्।

शङ्का—पहले तो ज्ञान और कर्मका फल मृत्युस्वरूपताकी प्राप्ति बतलाया गया है; किंतु उद्गीथज्ञान और कर्मका फल मृत्युस्वरूपताका अतिक्रमण बतलाया जायगा। अतः इसके फलका विषय भिन्न होनेसे यह पूर्वोक्त कर्म और ज्ञानके उद्गमस्थानको प्रकाशित करनेके लिये नहीं हो सकता।

नायं दोषः; अग्न्यादित्यात्मभावत्वादुद्गीथफलस्य। पूर्वत्राप्येतदेव फलमुक्तम् 'एतासां देवतानामेको भवति' इति। ननु 'मृत्युमतिक्रान्तः' इत्यादि विरुद्धम्;

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उद्गीथका फल अग्नि एवं आदित्यस्वरूपताकी प्राप्ति है। पहले भी 'इनमेंसे कोई एक देवता हो जाता है' इस वाक्यसे यही फल बतलाया गया है। यदि कहो कि 'मृत्युसे अतिक्रान्त हो जाता है' इतना कथन तो पहलेकी अपेक्षा विरुद्ध है ही-

न स्वाभाविकपाप्मासङ्ग-विषयत्वादतिक्रमणस्य।

तो यह बात भी नहीं है, क्योंकि इस अतिक्रमणका विषय स्वाभाविक पापका सङ्ग होना है।

कोऽसौ स्वाभाविकः पाप्मासङ्गो मृत्युः? कुतो वा तस्योद्भवः? केन वा तस्यातिक्रमणम्? कथं वा? इत्येतस्यार्थस्य प्रकाशनायाख्यायिकारभ्यते। कथम्—

यह स्वाभाविक पापका सङ्गरूप मृत्यु क्या है? कहाँसे उसकी उत्पत्ति होती है? किसके द्वारा उसका अतिक्रमण हो सकता है? और किस प्रकार हो सकता है? इन सब बातोंको प्रकाशित करनेके लिये यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है। सो किस प्रकार—

देव और असुरोंकी स्पर्धा, देवताओंका उद्गीथ-सम्बन्धी विचार

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति॥ १॥

प्रजापतिके दो प्रकारके पुत्र थे—देव और असुर। उनमें देव थोड़े ही थे और असुर अधिक थे। इन लोकोंमें वे परस्पर स्पर्धा (डाह) करने लगे। उनमेंसे देवताओंने कहा, 'हम यज्ञमें उद्गीथके द्वारा असुरोंका अतिक्रमण करें'॥ १॥

द्वया द्विप्रकाराः। हेति पूर्ववृत्तावद्योतको निपातः। वर्तमानप्रजापतेः पूर्वजन्मनि यद् वृत्तं तदवद्योतयति हशब्देन। प्राजा-

द्वयाः—दो प्रकारके। 'ह' यह पूर्ववृत्तान्तका द्योतक निपात है। वर्तमान प्रजापतिके पूर्वजन्ममें जो कुछ हुआ था उसे ही श्रुति 'ह' शब्दसे द्योतित करती है।

पत्याः प्रजापतेर्वृत्तजन्मावस्थस्यापत्यानि प्राजापत्याः। के ते? देवाश्चासुराश्च। तस्यैव प्रजापतेः प्राणा वागादयः।

'प्राजापत्याः'—जिस जन्ममें पूर्ववृत्त घटित हुआ था उसमें होनेवाले प्रजापतिके पुत्र प्राजापत्य कहे गये हैं। वे कौन थे? देवता और असुर; अर्थात् उसी प्रजापतिके वागादि प्राण [इन्द्र-विरोचनादि नहीं]।

प्राणानां देवासुरत्व-निर्वचनम्

कथं पुनस्तेषां देवासुरत्वम्? उच्यते—शास्त्रजनितज्ञानकर्मभाविता द्योतनाद्देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजनकर्मज्ञानभाविता असुराः। स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्।

किंतु उनका देवासुरत्व कैसे माना जाता है? सो बतलाया जाता है। शास्त्र-जनित ज्ञान और कर्मसे भावित जो प्राण हैं, वे द्योतनशील (प्रकाशमय) होनेके कारण देव हैं; तथा वे (प्राण) ही स्वाभाविक प्रत्यक्ष एवं अनुमानजनित दृष्ट प्रयोजनवाले कर्म और ज्ञानसे भावित होनेपर असुर हैं। अपने ही असुओं (प्राणों) में रमण करनेके कारण अथवा सुर यानी देवोंसे भिन्न होनेके कारण वे असुर कहलाते हैं।

यस्माच्च दृष्टप्रयोजनज्ञानकर्मभाविता असुराः, ततस्तस्मात्कानीयसाः, कनीयांस एव कानीयसाः, स्वार्थेऽणि वृद्धिः। कनीयांसोऽल्पा एव देवाः। ज्यायसा

क्योंकि असुरगण दृष्ट प्रयोजनवाले ज्ञान और कर्मकी भावनासे युक्त हैं, इसलिये देवगण कानीयस हैं। कानीयान् ही कानीयस हैं। यहाँ [कानीयस् शब्दसे] स्वार्थमें 'अण्' प्रत्यय होनेपर आदि स्वरकी वृद्धि हुई है, जिससे 'कानीयस' शब्द सिद्ध हुआ है। तात्पर्य यह कि देवगण कनीयान् अर्थात् थोड़े ही हैं। तथा असुरगण ज्यायस—ज्यायान् यानी

असुरा ज्यायान्सोऽसुराः। स्वाभाविकी हि कर्मज्ञानप्रवृत्तिर्महत्तरा प्राणानां शास्त्रजनितायाः कर्म-ज्ञानप्रवृत्तेर्दृष्टप्रयोजनत्वात्। अत एव कनीयस्त्वं देवानां शास्त्रजनितप्रवृत्तेरल्पत्वात्। अत्यन्तयत्नसाध्या हि सा।

अधिक हैं, क्योंकि दृष्ट प्रयोजनवाली होनेसे प्राणोंकी शास्त्रजनित कर्म-ज्ञानप्रवृत्तिकी अपेक्षा स्वाभाविकी कर्म-ज्ञानप्रवृत्ति ही अधिकतर होती है। इसीसे शास्त्रजनित प्रवृत्तिकी अल्पताके कारण देवताओंकी भी अल्पता है, क्योंकि वह अत्यन्त यत्न करनेपर सिद्ध होनेवाली है।

ते देवाश्चासुराश्च प्रजापति-शरीरस्था एषु लोकेषु निमित्त-भूतेषु स्वाभाविकेतरकर्मज्ञान-साध्येषु अस्पर्धन्त स्पर्धां कृतवन्तः। देवानां चासुराणां च वृत्त्युद्भवाभि-भवौ स्पर्धा। कदाचिच्छास्त्र-जनितकर्मज्ञानभावनारूपा वृत्तिः प्राणानामुद्भवति। यदा चोद्भवति तदा दृष्टप्रयोजना प्रत्यक्षानुमान-जनितकर्मज्ञानभावनारूपा तेषामेव प्राणानां वृत्तिरासुर्यभिभूयते। स देवानां जयोऽसुराणां पराजयः। कदाचित्तद्विपर्ययेण देवानां वृत्ति-रभिभूयत आसुर्या उद्भवः सो-

प्रजापतिके शरीरमें रहनेवाले वे देव और असुर स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक (शास्त्रजनित) कर्म और ज्ञानसे साध्य लोकोंके निमित्त स्पर्धा (डाह) करने लगे। दैवी और आसुरी वृत्तियोंका उठना और दबना ही देवता और असुरोंकी स्पर्धा है। कभी तो प्राणोंकी शास्त्रजनित कर्मज्ञानभावनारूपा वृत्ति उठती है, और जिस समय वह उठती है उस समय उन्हीं प्राणोंकी दृष्ट प्रयोजनवाली प्रत्यक्ष एवं अनुमानजनित कर्मज्ञानभावनारूपा आसुरी वृत्ति दब जाती है। यही देवताओंका जय और असुरोंका पराजय है। तथा कभी इसके विपरीत देवताओंकी वृत्ति दब जाती है और आसुरी वृत्तिका उत्थान होता है।

ऽसुराणां जयो देवानां पराजयः। एवं देवानां जये धर्मभूयस्त्वा दुत्कर्ष आ प्रजापतित्वप्राप्तेः। असुरजयेऽधर्मभूयस्त्वादपकर्ष आ स्थावरत्वप्राप्तेः। उभयसाम्ये मनुष्यत्वप्राप्तिः।

वह असुरोंका विजय और देवोंका पराजय है। इस प्रकार देवताओंका विजय होनेपर धर्मकी अधिकता होनेके कारण प्रजापतिपदकी प्राप्तिपर्यन्त उत्कर्ष (ऊर्ध्वगमन) होता है तथा असुरोंका विजय होनेपर अधर्मकी अधिकता होनेके कारण स्थावरत्वप्राप्तिपर्यन्त अधोगति होती है और दोनोंकी समानता होनेपर मनुष्यत्वकी प्राप्ति होती है।

त एवं कनीयस्त्वादभिभूयमाना असुरैर्देवा बाहुल्यादसुराणां किं कृतवन्तः? इत्युच्यते—ते देवा असुरैरभिभूयमाना ह किलोचुरुक्तवन्तः। कथम्? हन्तेदानीम् अस्मिन्यज्ञे ज्योतिष्टोमे, उद्गीथेन उद्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणेन अत्ययामातिगच्छामः। असुरानभिभूय स्वं देवभावं शास्त्रप्रकाशितं प्रतिपद्यामह इत्युक्तवन्तोऽन्योन्यम्। उद्गीथकर्मपदार्थकर्तृस्वरूपाश्रयणं च ज्ञानकर्मभ्याम्। कर्म वक्ष्यमाणं मन्त्रजपलक्षणं

इस प्रकार असुरोंकी अपेक्षा स्वयं अल्पसंख्यक होनेसे तथा असुरोंकी अधिकता होनेके कारण उनके द्वारा दबे हुए उन देवताओंने क्या किया? सो बतलाया जाता है। कहते हैं, असुरोंसे अभिभूत होते हुए उन देवताओंने कहा। क्या कहा?— 'अहो! अब इस ज्योतिष्टोम यज्ञमें उद्गीथके द्वारा—उद्गीथनामक जो कर्मका अङ्गभूत पदार्थ है उसे करनेवाले प्राणके स्वरूपका आश्रय करके हम असुरोंका अतिक्रमण करेंगे; अर्थात् असुरोंका पराभव कर अपने शास्त्रप्रकाशित देवभावको प्राप्त करेंगे—इस प्रकार उन्होंने आपसमें कहा। उद्गीथ कर्मरूप पदार्थके कर्ताके स्वरूपका आश्रय ज्ञान और कर्मके द्वारा किया जा सकता है। उसमें कर्म तो

विधित्स्यमानं ''तदेतानि जपेत्'' इति। ज्ञानं त्विदमेव निरूप्यमाणम्।

''तदेतानि जपेत्'' इस वाक्यद्वारा जिसका विधान करना इष्ट है वह आगे कहा जानेवाला मन्त्रजपरूप है और ज्ञान तो वही है जिसका निरूपण किया जा रहा है।

नन्विदमभ्यारोहजपविशेषोऽर्थवादो न ज्ञाननिरूपणपरम्।

शङ्का—किंतु यह तो अभ्यारोह[1] मन्त्रजपकी विधिका शेषभूत अर्थवाद है, ज्ञाननिरूपण-परक नहीं है।

प्राणोपासनवाक्यस्य अन्यशेषत्व-निरास:

न; 'य एवं वेद' इति वचनात्। उद्गीथप्रस्तावे पुराकल्पश्रवणादुद्गीथविधिपरमिति चेन्न, अप्रकरणात्। उद्गीथस्य चान्यत्र विहितत्वात्। विद्याप्रकरणत्वाच्चास्य। अभ्यारोहजपस्य चानित्यत्वात, एवंवित्प्रयोज्यत्वात्; विज्ञानस्य च नित्यवच्छ्रवणात्।

समाधान—यह बात नहीं है, क्योंकि यहाँ 'जो ऐसा जानता है' ऐसा वचन है। यदि कहो कि उद्गीथके प्रकरणमें ['द्वया ह' इत्यादि] पूर्वकल्प-सम्बन्धी श्रुति होनेसे यह उद्गीथ-विधिपरक है[2] -तो यह बात भी नहीं है, क्योंकि यह उद्गीथका प्रकरण ही नहीं है। उद्गीथका विधान तो अन्यत्र (कर्मकाण्डमें) किया गया है। यह तो विद्या (उपासना) का प्रकरण है। इसके सिवा अभ्यारोहजप अनित्य होता है, क्योंकि प्राणवेत्ताद्वारा ही वह अनुष्ठान करनेयोग्य है और प्राणविज्ञान नित्यवत् सुना गया है।[3] तथा ''यह प्राणविज्ञान

१. जिसके जपसे देवभावकी सम्मुखतासे प्राप्ति हो उस मन्त्रजपका नाम अभ्यारोह मन्त्रजप है।

२. अर्थात् उद्गीथविधिका शेषभूत अर्थवाद है।

३. तात्पर्य यह है कि अभ्यारोहजपका अधिकार प्राणवेत्ताको ही होनेके कारण, प्राणविज्ञानसे पूर्व उसका अनुष्ठान नहीं हो सकता; इसलिये वह अनित्य है। किंतु प्राणविज्ञान

''तद्धैतल्लोकजिदेव'' (छा० उ० १। ३। २८) इति च श्रुतेः; प्राणस्य वागादीनां च शुद्ध्यशुद्धिवचनात्। न ह्यनुपास्यत्वे प्राणस्य शुद्धिवचनं वागादीनां च सहोपन्यस्तानामशुद्धिवचनम्। वागादिनिन्दया मुख्यप्राणस्तुतिश्चाभिप्रेता उपपद्यते। 'मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते' इत्यादि फलवचनं च। प्राणस्वरूपापत्तेर्हि फलं तद्यद्वागाद्यग्न्यादिभावः।

लोकोंकी प्राप्ति करानेवाला ही है'' इस श्रुतिसे और प्राण तथा वागादिकी शुद्धि और अशुद्धि बतलायी जानेसे भी यह विज्ञानका ही प्रकरण सिद्ध होता है। प्राणकी उपास्यता बतलाना अभीष्ट न होनेपर प्राणकी शुद्धिका प्रतिपादन करना और उसीके साथ जिनका उल्लेख किया गया है उन वागादिको अशुद्ध कहना सम्भव नहीं है। इससे वागादिकी निन्दाद्वारा मुख्य प्राणकी स्तुति अभिमत एवं युक्तियुक्त जान पड़ती है। 'मृत्युको पार करके प्रकाशित होता है' ऐसा इसका फलवचन भी है। वागादिको जो अग्न्यादिभावकी प्राप्ति है वह उनकी प्राणस्वरूपताकी प्राप्तिका ही फल है।

भवतु नाम प्राणस्योपासनम्, न तु विशुद्ध्यादिगुणवत्तेति। ननु स्याच्छ्रुतत्वात्; न स्यात्;

शङ्का—यहाँ प्राणकी उपासना भले ही हो, परंतु उसका विशुद्धि आदि गुणोंसे युक्त होना तो सम्भव नहीं है। यदि कहो कि श्रुतिप्रतिपादित होनेके कारण ऐसा हो सकता है, तो ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुति

उसकी अपेक्षा नित्य है। क्योंकि 'य एवं विद्वान पौर्णमासीं यजते' इस नित्य पौर्णमासयागके समान 'य एवं वेद' (जो इस प्रकार जानता है) इस प्रकार नित्यवत् विज्ञान (उपासना) का श्रवण होता है। यहाँ प्रयाज आदि पौर्णमासीके प्रयोजक नहीं हैं, अपितु पौर्णमासी ही प्रयाज आदिकी प्रयोजिका है, उसी प्रकार प्राणवित्प्रयोज्य जप प्राणविज्ञानका प्रयोजक नहीं है, बल्कि प्राणविज्ञान ही जपका प्रयोजक है। अतः वह जपसे पूर्वसिद्ध है।

उपास्यत्वे स्तुत्यर्थत्वोपपत्तेः।

न; अविपरीतार्थप्रतिपत्तेः श्रेयःप्राप्त्युपपत्तेर्लोकवत्। यो ह्यविपरीतमर्थं प्रतिपद्यते लोके स इष्टं प्राप्नोत्यनिष्टाद्वा निवर्तते, न विपरीतार्थप्रतिपत्त्या। तथेहापि श्रौतशब्दजनितार्थप्रतिपत्तौ श्रेयःप्राप्तिरुपपन्ना न विपर्यये। न चोपासनार्थश्रुतशब्दोत्थविज्ञानविषयस्य अयथार्थत्वे प्रमाणमस्ति। न च तद्विज्ञानस्यापवादः श्रूयते। ततः श्रेयःप्राप्तिदर्शनाद्यथार्थतां प्रतिपद्यामहे; विपर्यये चानर्थप्राप्तिदर्शनात्। यो हि विपर्ययेणार्थं प्रतिपद्यते लोके, पुरुषं स्थाणुरित्यमित्रं मित्रमिति वा, सोऽनर्थं प्राप्नुवन्दृश्यते। आत्मेश्वरदेवतादीनामपि

तो, उपास्य होनेके कारण, उसकी स्तुतिके लिये भी हो सकती है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविरुद्ध अर्थके ज्ञानसे ही श्रेयःप्राप्ति होनी सम्भव है; ऐसा ही लोकमें भी देखा जाता है। लोकमें जो पुरुष अविरुद्ध अर्थका ज्ञान रखता है वही अभीष्ट प्राप्त करता है और अनिष्टसे बचता है। विपरीत अर्थके ज्ञानसे ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार यहाँ भी श्रुतिके शब्दसे निकलनेवाले अर्थके ज्ञानसे ही श्रेयःप्राप्ति होनी सम्भव है, विपरीत अवस्थामें नहीं। इसके सिवा उपासनाका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके शब्दसे होनेवाले विज्ञानके विषयके मिथ्या होनेमें कोई प्रमाण भी नहीं है। श्रुति उस विज्ञानका कहीं अपवाद भी नहीं करती। अतः उससे श्रेयःप्राप्ति दिखायी देनेसे हम उसकी यथार्थता मानते ही हैं, क्योंकि इससे विपरीत माननेमें अनर्थकी प्राप्ति देखी जाती है। लोकमें जो पुरुष वस्तुको विपरीतभावसे ग्रहण करता है, जैसे पुरुषको स्थाणु अथवा शत्रुको मित्र समझता है, वह अनर्थको प्राप्त होता देखा जाता है। यदि श्रुतिसे आत्मा, ईश्वर और देवतादिका भी

अयथार्थानामेव चेद् ग्रहणं श्रुतितः, अनर्थप्राप्त्यर्थं शास्त्रमिति ध्रुवं प्राप्नुयाल्लोकवदेव, न चैतदिष्टम्; तस्माद्यथाभूतानेव आत्मेश्वर-देवतादीन् ग्राहयत्युपासनार्थं शास्त्रम्।

नामादौ ब्रह्मदृष्टिदर्शनादयुक्त-मिति चेत्स्फुटं नामादेरब्रह्मत्वम्, तत्र ब्रह्मदृष्टिं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिं विपरीतां ग्राहयच्छास्त्रं दृश्यते। तस्माद्यथार्थमेव शास्त्रतः प्रतिपत्तेः श्रेयः इत्ययुक्तमिति चेत्?

न, प्रतिमावद्भेदप्रतिपत्तेः। नामादावब्रह्मणि ब्रह्मदृष्टिं विपरीतां ग्राहयति शास्त्रं स्थाण्वादाविव पुरुषदृष्टिम्, इति नैतत्साध्ववोचः। कस्मात्? भेदेन हि ब्रह्मणो नामादिवस्तुप्रतिपन्नस्य नामादौ विधीयते ब्रह्मदृष्टिः प्रतिमादाविव विष्णुदृष्टिः। आलम्बनत्वेन हि

अयथार्थरूपसे ही ग्रहण होता तब तो लोककी तरह शास्त्र भी अनर्थप्राप्तिके ही लिये है—ऐसी आपत्ति अवश्य हो सकती थी। परंतु यह इष्ट नहीं है; अतः शास्त्र उपासनाके लिये यथार्थ आत्मा, ईश्वर और देवतादिको ही ग्रहण कराता है।

शङ्का—नामादिमें ब्रह्मदृष्टि देखी जानेके कारण तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। नामादिका अब्रह्मत्व स्पष्ट ही है। उनमें स्थाणु आदिमें पुरुषदृष्टिके समान शास्त्र विपरीत ब्रह्मदृष्टिका ग्रहण कराता देखा जाता है। अतः शास्त्रसे यथार्थ ज्ञान होनेके कारण ही श्रेयकी प्राप्ति होती है—ऐसा कहना ठीक नहीं।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि प्रतिमाके समान उनका ब्रह्मसे भेदज्ञान रहता है। स्थाणु आदिमें पुरुषदृष्टिके समान शास्त्र नामादि अब्रह्ममें विपरीत ब्रह्मदृष्टिका ग्रहण करता है—यह तुमने ठीक नहीं कहा। क्यों? क्योंकि जिसे ब्रह्मसे नामादि वस्तुका भेदरूपसे ज्ञान है उसीके लिये प्रतिमादिमें विष्णुदृष्टिके समान नामादिमें ब्रह्मदृष्टिका विधान किया जाता है।

नामादिप्रतिपत्तिः प्रतिमादिवदेव, न तु नामाद्येव ब्रह्मेति। यथा स्थाणावनिर्ज्ञाते न स्थाणुरिति, पुरुष एवायमिति प्रतिपद्यते विपरीतम्, न तु तथा नामादौ ब्रह्मदृष्टिर्विपरीता।

प्रतिमादिके समान नामादिका ज्ञान भी ब्रह्मके आलम्बनरूपसे ही होता है, नामादि ही ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार स्थाणुका ज्ञान न होनेपर 'यह स्थाणु नहीं है, पुरुष ही है' ऐसा विपरीत ज्ञान होता है, नामादिमें वैसी विपरीत ब्रह्मदृष्टि नहीं होती।

ब्रह्मदृष्टिरेव केवला नास्ति ब्रह्मेति चेत्। एतेन प्रतिमा-ब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादि-दृष्टीनां तुल्यता।

पूर्वपक्षी—किंतु इससे 'केवल ब्रह्मदृष्टि ही होती है, वस्तुतः ब्रह्म है नहीं' यही बात सिद्ध होती है। प्रतिमा और ब्राह्मणादिमें विष्णु आदि देव और पितृ आदि दृष्टियाँ भी इसीके समान हैं।

न; ऋगादिषु, पृथिव्यादि-दृष्टिदर्शनात्। विद्यमानपृथिव्यादि-वस्तुदृष्टीनामेव ऋगादिविषये क्षेपदर्शनात्। तस्मात्तत्सामान्या-न्नामादिषु ब्रह्मादिदृष्टीनां विद्यमानब्रह्मादिविषयत्वसिद्धिः।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऋगादिमें पृथिवी आदि दृष्टि देखी जाती है अर्थात् ऋगादि विषयोंमें पृथिवी आदि विद्यमान वस्तुविषयक दृष्टियोंका ही आरोप देखा गया है। अतः उनसे समानता होनेके कारण नामादिमें जो ब्रह्मादिदृष्टि हैं उनकी विद्यमान ब्रह्मादिविषयता सिद्ध होती है।

एतेन प्रतिमाब्राह्मणादिषु विष्ण्वादिदेवपित्रादिबुद्धीनां च सत्यवस्तुविषयत्वसिद्धिः। मुख्यापेक्ष-त्वाच्च गौणत्वस्य। पञ्चाग्न्या-

इससे प्रतिमा और ब्राह्मणादिमें विष्णु आदि देवदृष्टि और पित्रादि दृष्टियोंका भी सत्यवस्तुविषयक होना सिद्ध होता है, क्योंकि गौणता तो मुख्यकी अपेक्षासे होती है। जिस प्रकार

दिषु चाग्नित्वादेर्गौणत्वाद् मुख्याग्न्यादिसद्भाववन्नामादिषु ब्रह्मत्वस्य गौणत्वान्मुख्यब्रह्म-सद्भावोपपत्तिः।

पञ्चाग्नि आदिमें अग्नित्वकी गौणता होनेसे मुख्याग्नि आदिका सद्भाव सिद्ध होता है उसी प्रकार नामादिमें ब्रह्मत्वकी गौणता होनेसे मुख्य ब्रह्मकी सत्ता सिद्ध होती है।

क्रियार्थैश्चाविशेषाद्विद्यार्थानाम् बुद्ध्युत्पादकत्वे ज्ञानवाक्यानां क्रियार्थवाक्यैः सामान्यम् यथा च दर्शपौर्णमासादिक्रियेदम्फला विशिष्टेति-कर्तव्यताका एवं क्रमप्रयुक्ताङ्गा च इत्येतदलौकिकं वस्तु प्रत्यक्षाद्यविषयं तथाभूतं च वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते। तथा, परमात्मेश्वरदेवतादि-वस्तु अस्थूलादिधर्मकमशनायाद्यतीतं चेत्येवमादिविशिष्टमिति वेदवाक्यैरेव ज्ञाप्यते, इत्यलौकिकत्वात्तथाभूतमेव भवितुमर्हतीति न च क्रियार्थैर्वाक्यैर्ज्ञानवाक्यानां बुद्ध्युत्पादकत्वे विशेषोऽस्ति।

इसके सिवा ज्ञानसम्बन्धी वाक्योंकी कर्मपरक वाक्योंसे समानता होनेके कारण भी [यही सिद्ध होता है]। जिस प्रकार दर्शपौर्णमासादि क्रिया इस फलवाली है, [अमुक-अमुक प्रकारसे] विशिष्ट इतिकर्तव्यता[1] वाली है और इस प्रकारसे क्रमसे उसके अङ्गोंका प्रयोग होना चाहिये—ये सब अलौकिक बातें, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणकी विषय नहीं हैं किंतु यथार्थ हैं, वेदवाक्योंसे ही जनायी जाती हैं, उसी प्रकार परमात्मा, ईश्वर एवं देवतादि पदार्थ स्थूलत्वादि धर्मोंसे रहित एवं क्षुधादिसे अतीत हैं तथा इस प्रकारके गुणोंसे विशिष्ट हैं—ये बातें वेदवाक्योंसे ही जानी जा सकती हैं। अतः अलौकिक होनेके कारण वे सत्य ही होनी चाहिये। इसके सिवा क्रियार्थ-वाक्योंसे ज्ञानसम्बन्धी वाक्योंका बुद्धि उत्पन्न करनेमें कोई भेद भी

१. करणके सहायकरूपसे अपेक्षित कार्य 'इतिकर्तव्यता' कहलाते हैं, जैसे 'यवैर्यजेत्' इस यव-यागमें करणभूत 'यव' का प्रोक्षण आदि कार्य 'इतिकर्तव्यता' है।

न चानिश्चिता विपर्यस्ता वा परमात्मादिवस्तुविषया बुद्धिरुत्पद्यते।

ज्ञानवाक्यानां क्रियार्थवाक्यै-रसमानत्व-शङ्कनम्

अनुष्ठेयाभावादयुक्तमिति चेत् क्रियार्थैर्वाक्यैस्त्र्यंशा भावनानुष्ठेया ज्ञाप्यतेऽलौकिक्यपि। न तथा परमात्मेश्वरादिविज्ञानेऽनुष्ठेयं किञ्चिदस्ति। अतः क्रियार्थैः साधर्म्यमित्ययुक्तमिति चेत्?

तस्य परिहारः

न, ज्ञानस्य तथाभूतार्थविषयत्वात्। न ह्यनुष्ठेयस्य त्र्यंशस्य भावनाख्यस्यानुष्ठेयत्वात्तथात्वम्, किं तर्हि? प्रमाणसमधिगतत्वात्। न च तद्विषयाया बुद्धेरनुष्ठेयविषयत्वात्तथार्थत्वम्, किं तर्हि? वेदवाक्य-

नहीं है। उनसे परमात्मादि वस्तुविषयक अनिश्चित या विपरीत बुद्धि उत्पन्न नहीं होती।

पूर्व०—ज्ञानपरक वाक्योंद्वारा कोई अनुष्ठेयकर्म नहीं होता, इसलिये उन्हें क्रियार्थवाक्योंके समान कहना अनुचित है। क्रियार्थवाक्योंसे अलौकिक होनेपर भी [फल, साधन तथा इति कर्तव्यतारूपसे] तीन[१] अंशोंवाली भावना अनुष्ठेयरूपसे बतलायी जाती है। परमात्मा एवं ईश्वरादि-विज्ञानमें वैसा कोई अनुष्ठेय कर्म नहीं होता। अतः विज्ञानवाक्योंकी जो क्रियार्थवाक्योंसे सधर्मता बतलायी गयी है वह ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान यथार्थ वस्तुविषयक होता है। त्र्यंश (तीन अंशवाली) भावनासंज्ञक अनुष्ठेय कर्मकी, अनुष्ठेय होनेके कारण, यथार्थता नहीं है, तो फिर किस कारणसे है? श्रुतिप्रमाणद्वारा ज्ञात होनेके कारण। इसी प्रकार परमात्मविषयक बुद्धिकी यथार्थता भी अनुष्ठेयवस्तुविषयक होनेसे नहीं है, तो फिर किस कारणसे है?

१.उन तीन अंशोंका स्वरूप यह है—(१) क्या भावना करे? (२) किसके द्वारा भावना करे? (३) किस प्रकार भावना करे?

जनितत्वादेव। वेदवाक्याधिगतस्य वस्तुनस्तथात्वे सत्यनुष्ठेयत्वविशिष्टं चेदनुतिष्ठति। नो चेदनुष्ठेयत्वविशिष्टं नानुतिष्ठति।

वेदवाक्यजनित होनेसे ही उसकी यथार्थता है। वेदवाक्यद्वारा ज्ञात वस्तुके यथार्थ सिद्ध होनेपर यदि वह अनुष्ठेयत्वविशिष्ट होती है तो पुरुष उसका अनुष्ठान करता है और यदि अनुष्ठेयत्वविशिष्ट नहीं होती तो उसका अनुष्ठान नहीं करता।

अननुष्ठेयत्वाज्ज्ञानवाक्यानामानर्थक्याशङ्कनम्

अननुष्ठेयत्वे वाक्यप्रमाणत्वानुपपत्तिरिति चेत्। न ह्यनुष्ठेयेऽसति पदानां संहतिरुपपद्यते। अनुष्ठेयत्वे तु सति तादर्थ्येन पदानि संहन्यन्ते। तत्रानुष्ठेयनिष्ठं वाक्यं प्रमाणं भवति इदमनेनैवं कर्तव्यमिति। न त्विदमनेनैवमित्येवं प्रकाराणां पदशतानामपि वाक्यत्वमस्ति 'कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्' इत्येवमादीनामन्यतमेऽसति। अतः परमात्मेश्वरादीनामवाक्यप्रमाणत्वम्, पदार्थत्वे च प्रमाणान्तरविषयत्वम्। अतोऽसदेतदिति चेत्?

पूर्व०—किंतु अनुष्ठेयत्व न होनेपर तो वह वाक्यप्रमाणका विषय ही नहीं हो सकता। अनुष्ठेय न होनेपर पदोंका संहत होना ही सम्भव नहीं है। अनुष्ठेयत्व होनेपर ही उसे प्रकाशित करनेके लिये पदोंका मेल होता है। 'इसे यह इस प्रकार करना चाहिये' इस प्रकार अनुष्ठेयपरक वाक्य ही प्रमाण होता है। 'कुर्यात्, क्रियेत, कर्तव्यम्, भवेत्, स्यात्' ये पाँच विधि-बोधक क्रियापद हैं। ऐसे क्रियापदोंमेंसे किसीके भी न होनेपर तो 'इसे यह इस प्रकार' ऐसे सैकड़ों पदोंके मिलनेपर भी उनमें वाक्यत्व नहीं आ सकता। अतः परमात्मा एवं ईश्वरादि वाक्यप्रमाणके विषय नहीं हो सकते। यदि वे पदार्थ हैं तो किसी अन्य प्रमाणके विषय होंगे। अतः [वे शास्त्रप्रमाणजनित हैं] यह मानना ठीक नहीं।

न, 'अस्ति मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेतः'

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि

तस्य परिहारः

इत्येवमाद्यननुष्ठेयेऽपि वाक्यदर्शनात्। न च 'मेरुर्वर्णचतुष्टयोपेतः' इत्येवमादिवाक्यश्रवणे मेर्वादावनुष्ठेयत्वबुद्धिरुत्पद्यते। तथा अस्तिपदसहितानां परमात्मेश्वरादिप्रतिपादकवाक्यपदानां विशेषणविशेष्यभावेन संहतिः केन वार्यते।

'मेरु चार वर्णोंसे युक्त है' इत्यादिमें अनुष्ठेय न होनेपर भी वाक्य देखा जाता है। 'मेरु चार वर्णोंसे युक्त है' इत्यादि वाक्य सुननेसे मेरु आदिमें अनुष्ठेयत्वबुद्धि भी उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार परमात्मा और ईश्वरका प्रतिपादन करनेवाले 'अस्ति' पदयुक्त वाक्योंके पदोंकी विशेष्य-विशेषण-भावसे होनेवाली संहतिको भी कौन रोक सकता है?

मेर्वादिज्ञानवत्परमात्मज्ञाने प्रयोजनाभावादयुक्तमिति चेत्?

पूर्व०—किंतु मेरु आदिके ज्ञानके समान परमात्माके ज्ञानसे तो कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिये ऐसा मानना व्यर्थ है।

ज्ञानवाक्यानां निष्प्रयोजनत्व-परिहारः

न, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २। १। १) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" (मु० उ० २। २। ८) इति फलश्रवणात्, संसारबीजाविद्यादिदोषनिवृत्तिदर्शनाच्च। अनन्यशेषत्वाच्च तज्ज्ञानस्य,

सिद्धान्ती—ऐसा[1] कहना ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मज्ञानका तो "ब्रह्मवेत्ता परम पद प्राप्त कर लेता है" "उसकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है" इत्यादि फल सुना गया है तथा उससे संसारके बीजभूत अविद्यादि दोषकी निवृत्ति भी होती देखी गयी है। परमात्माका ज्ञान किसी अन्य कर्मका शेष भी नहीं है; इसलिये

१. क्योंकि जिस प्रकार 'जुहू' को अन्य कर्मका शेषत्व प्राप्त करानेवाला 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्यादि प्रमाण मिलता है, वैसा ब्रह्मज्ञानको 'यह किसी अनुष्ठानका अङ्ग है'—इस प्रकार अन्यशेषत्व प्राप्त करानेवाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः उपर्युक्त श्रुतिको अर्थवाद नहीं कहा जा सकता।

जुह्वामिव फलश्रुतेरर्थवादत्वानुपपत्तिः।

[पर्णमयीत्वाधिकरणकी] जुहूके विषयमें जिस प्रकार फलश्रुति अर्थवाद है उस प्रकार उसके अर्थवाद होनेकी भी सम्भावना नहीं है।

प्रतिषिद्धानिष्टफलसम्बन्धश्च वेदादेव विज्ञायते। न चानुष्ठेयः सः। न च प्रतिषिद्धविषये प्रवृत्तक्रियस्य अकरणादन्यदनुष्ठेयमस्ति। अकर्तव्यताज्ञाननिष्ठतैव हि परमार्थतः प्रतिषेधविधीनां स्यात्। क्षुधार्तस्य प्रतिषेधज्ञानसंस्कृतस्य अभक्ष्येऽभोज्ये वा प्रत्युपस्थिते कलञ्जाभिशस्तान्नादौ 'इदं भक्ष्यमदो भोज्यम्' इति वा ज्ञानमुत्पन्नम्, तद्विषयया प्रतिषेधज्ञानस्मृत्या बाध्यते। मृगतृष्णिकायामिव पेयज्ञानं तद्विषययाथात्म्यविज्ञानेन। तस्मिन्बाधिते स्वाभाविकविपरीतज्ञानेऽनर्थकरी तद्भक्षणभोजनप्रवृत्तिर्न भवति। विपरीत-

इसके सिवा प्रतिषिद्ध कर्मानुष्ठानसे अनिष्ट फलका सम्बन्ध होना भी वेदसे ही जाना जाता है और वह (प्रतिषिद्ध कर्म) अनुष्ठेय भी नहीं होता; तथा जो पुरुष क्रियामें प्रवृत्त है उसके लिये प्रतिषिद्ध विषयके न करनेसे ही दूसरे प्रकारका कर्म अनुष्ठेय नहीं हो जाता; क्योंकि वस्तुतः प्रतिषिद्धसम्बन्धी विधियोंका तात्पर्य उनकी अकर्त्तव्यताका ज्ञान करानेमें ही है। यदि प्रतिषेधज्ञानके संस्कारसे युक्त किसी क्षुधार्त्त पुरुषके सामने अभक्ष्य और अभोज्य कलञ्ज[1] या अभिशस्त[2] अन्न उपस्थित हो तो उसे जो 'यह भक्ष्य है, यह भोज्य है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा। वह उसकी भोजनसम्बन्धिनी प्रतिषेधज्ञानस्मृतिसे बाधित हो जायगा, जिस प्रकार कि मृगतृष्णाके स्वरूपका ज्ञान होनेपर उसमें पेयबुद्धि नहीं रहती। उस स्वाभाविक विपरीत ज्ञानके बाधित हो जानेपर उसके भक्षण या भोजनमें अनर्थकारिणी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह प्रवृत्ति तो विपरीतज्ञानजनित

१. मांस। २. ब्रह्महत्यादि पापसे दूषित पुरुषका अन्न।

ज्ञाननिमित्ताया: प्रवृत्तेर्निवृत्तिरेव, न पुनर्यत्न:कार्यस्तदभावे। तस्मात् प्रतिषेधविधीनां वस्तुयाथात्म्य-ज्ञाननिष्ठतैव, न पुरुषव्यापार-निष्ठतागन्धोऽप्यस्ति।

थी अत: उसकी निवृत्ति ही हो जाती है, उसके अभावके लिये उसे फिर कोई यत्न नहीं करना पड़ता। अत: प्रतिषेधविधियोंका वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान करानेमें ही तात्पर्य है, उनमें पुरुषकी व्यापारनिष्ठताकी गन्ध भी नहीं है।

तथेहापि परमात्मादियाथात्म्य-ज्ञानविधीनां तावन्मात्रपर्यवसानतैव स्यात्। तथा तद्विज्ञानसंस्कृतस्य तद्विपरीतार्थज्ञाननिमित्तानां प्रवृत्तीनामनर्थार्थत्वेन ज्ञायमानत्वात् परमात्मादियाथात्म्यज्ञानस्मृत्या स्वाभाविके तन्निमित्तविज्ञाने बाधितेऽभाव: स्यात्।

इसी प्रकार यहाँ भी परमात्मादिके स्वरूपका ज्ञान करानेवाली विधियोंका तात्पर्य केवल उतनेहीमें है। तथा उसके ज्ञानके संस्कारसे युक्त पुरुषको उससे विपरीत पदार्थोंके ज्ञानकी निमित्तभूता प्रवृत्तियोंकी अनर्थार्थकताका ज्ञान हो जानेसे परमात्मादिके स्वरूपज्ञानकी स्मृतिसे स्वाभाविक प्रवृत्तिविषयक ज्ञानके बाधित हो जानेसे प्रवृत्तिका अभाव ही हो जाता है।

ननु कलञ्जादिभक्षणादे-रनर्थार्थत्ववस्तुयाथात्म्यज्ञानस्मृत्या स्वाभाविके तद्भक्ष्यत्वादिविषय-विपरीतज्ञाने निवर्तिते तद्भक्षणाद्यनर्थ-प्रवृत्त्यभाववदप्रतिषेधविषयत्वाच्छास्त्र-विहितप्रवृत्त्यभावो न युक्त इति चेत्।

पूर्व०—किंतु कलञ्जभक्षणादि अनर्थार्थक वस्तुओंके स्वरूपज्ञानकी स्मृतिसे उनके भक्ष्यत्वादिविषयक स्वभावसिद्ध विपरीत ज्ञानके निवृत्त हो जानेपर जैसे उनके भक्षणादिकी अनर्थमयी प्रवृत्तिका अभाव हो जाता है वैसे ही शास्त्रविहित प्रवृत्तिका अभाव होना तो उचित नहीं है, क्योंकि वह प्रतिषेधका विषय नहीं है।

न, विपरीतज्ञाननिमित्तत्वानर्थार्थत्वाभ्यां तुल्यत्वात्। कलञ्जभक्षणादिप्रवृत्तेः मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वम्। अनर्थार्थत्वं च यथा, तथा शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि। तस्मात् परमात्मयाथात्म्यविज्ञानवतः शास्त्रविहितप्रवृत्तीनामपि मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वेन अनर्थार्थत्वेन च तुल्यत्वात् परमात्मज्ञानेन विपरीतज्ञाने निवर्तिते युक्त एवाभावः।

ननु तत्र युक्तः, नित्यानां तु केवलशास्त्रनिमित्तत्वात्, अनर्थार्थत्वाभावाच्चाभावो न युक्त इति चेत्?

न अविद्यारागद्वेषादिदोषवतो विहितत्वात्। यथा स्वर्गकामादिदोषवतो दर्शपूर्णमासादीनि काम्यानि कर्माणि विहितानि

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विपरीतज्ञानके कारण और अनर्थके लिये होनेसे ये दोनों समान ही हैं। जिस प्रकार कलञ्जभक्षणादिकी प्रवृत्ति मिथ्याज्ञानके कारण और अनर्थकी हेतु होती है उसी प्रकार शास्त्रविहित प्रवृत्तियाँ भी हैं। अतः जिसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो गया है उसकी दृष्टिमें शास्त्रविहित प्रवृत्तियाँ भी मिथ्याज्ञानको हेतु और अनर्थकी प्राप्ति करानेवाली होनेमें कलञ्जभक्षणादिके समान ही हैं, इसलिये परमात्मज्ञानसे उनके विपरीत ज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उनका भी अभाव हो जाना उचित ही है।

पूर्व०—माना, वहाँ अभाव होना उचित है किंतु नित्य कर्मोंका त्याग करना तो उचित नहीं है; क्योंकि वे केवल शास्त्रविहित हैं और किसी प्रकारके अनर्थकी भी प्राप्ति करानेवाले नहीं हैं। ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है; उनका विधान भी अविद्या और राग-द्वेषादि दोषयुक्त पुरुषोंके ही लिये है। जिस प्रकार दर्शपूर्णमासादि काम्य कर्मोंका विधान स्वर्गकामादि दोषयुक्त पुरुषोंके लिये किया गया है, उसी

तथा सर्वानर्थबीजाविद्यादिदोषवत-स्तज्जनितेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारराग-द्वेषादिदोषवतश्च तत्प्रेरिताविशेषप्रवृत्ते-रिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थिनो नित्यानि कर्माणि विधीयन्ते, न केवलं शास्त्रनिमित्तान्येव।

प्रकार सब प्रकारके अनर्थके बीजभूत अविद्यादि दोषवान् तथा उनसे होनेवाली इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी इच्छा एवं इष्टनिवृत्ति और अनिष्टप्राप्तिके द्वेषरूप दोषसे युक्त तथा उन राग-द्वेषसे प्रेरित होकर समानरूपसे प्रवृत्त होनेवाले एवं इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी इच्छावाले पुरुषोंके लिये नित्यकर्मोंका विधान किया गया है, वे केवल शास्त्रजनित ही नहीं हैं।

न चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमास-चातुर्मास्यपशुबन्धसोमानां कर्मणां स्वतः काम्यनित्यत्वविवेकोऽस्ति। कर्तृगतेन हि स्वर्गादिकामदोषेण कामार्थता। तथा अविद्यादिदोषवतः स्वभावप्राप्तेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थिनः, तदर्थान्येव नित्यानि इति युक्तम्, तं प्रति विहितत्वात्।

इसके सिवा अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सोमादि कर्मोंका स्वतः कोई काम्यत्व या नित्यत्वका विवेक नहीं होता। कर्ताको स्वर्गादिसम्बन्धिनी कामनाके दोषसे ही उनकी सकामता सिद्ध होती है। इसी प्रकार जो अविद्यादि दोषसे युक्त है और जिसे स्वभावप्राप्त इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिकी इच्छा है, उसीके लिये नित्य-कर्म हैं—ऐसा मानना उचित ही है, क्योंकि उसीके लिये उनका विधान है।

न परमात्मयाथात्म्य-

जिसे परमात्माके वास्तविक

विज्ञानवतः शमोपायव्यतिरेकेण किञ्चित्कर्म विहितमुपलभ्यते। कर्मनिमित्तदेवतादिसर्वसाधनविज्ञानोपमर्देन ह्यात्मज्ञानं विधीयते, न चोपमर्दितक्रियाकारकादिविज्ञानस्य कर्मप्रवृत्तिरुपपद्यते। विशिष्टक्रियासाधनादिज्ञानपूर्वकत्वात्क्रियाप्रवृत्तेः। न हि देशकालाद्यनवच्छिन्नास्थूलद्वयादिब्रह्मप्रत्ययधारिणः कर्मावसरोऽस्ति।

भोजनादिप्रवृत्त्यवसरवत्स्यादिति चेत्?

न, अविद्यादिकेवलदोषनिमित्तत्वाद्भोजनादिप्रवृत्तेरावश्यकत्वानुपपत्तेः। न तु तथानियतं कदाचित्क्रियते कदाचिन्न क्रियते चेति नित्यं कर्मोपपद्यते। केवलदोष-

स्वरूपका ज्ञान है उसके लिये तो शम (शान्ति)- का साधन करनेके सिवा और कोई भी कर्म विहित नहीं देखा जाता, क्योंकि आत्मज्ञान तो कर्मके निमित्तभूत देवतादि सब प्रकारके साधनोंके विज्ञानकी निवृत्ति करके ही होता है और जिसके क्रिया-कारकादि विज्ञानकी निवृत्ति हो गयी है उसकी कर्ममें प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है; कारण क्रियाकी प्रवृत्ति तो विशिष्ट क्रिया और साधनादिके विज्ञानपूर्वक ही होती है। जिसकी देश-कालादिसे अनवच्छिन्न, अस्थूल और अद्वयादि-स्वरूप ब्रह्मप्रत्ययमें धारणा है उसे तो कर्मका कोई अवसर ही नहीं है।

पूर्व०—भोजनादिकी प्रवृत्तिके अवसरके समान उसे कर्मका भी अवसर हो सकता है—ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि भोजनादिमें प्रवृत्त होनेकी आवश्यकता केवल अविद्यादि दोषके ही कारण होती हो—ऐसा मानना उचित नहीं है। इसके सिवा भोजनादिके समान नित्य कर्मका, कभी किया जाय और कभी न किया जाय—ऐसा अनियत होना भी सम्भव नहीं है। भोजनादि कर्म केवल क्षुधादि दोषके कारण होते हैं, इसलिये

निमित्तत्वात्तु भोजनादिकर्मणोऽनियतत्वं स्यात्। दोषोद्भवाभिभवयोरनियतत्वात् कामानामिव काम्येषु शास्त्रनिमित्तकालाद्यपेक्षत्वाच्च नित्यानामनियतत्वानुपपत्तिः। दोषनिमित्तत्वे सत्यपि यथाकाम्याग्निहोत्रस्य शास्त्रविहितत्वात् सायंप्रातःकालाद्यपेक्षत्वमेवम्।

उनका तो अनियत होना सम्भव है, क्योंकि काम्य विषयोंकी कामनाके समान उन दोषोंकी उत्पत्ति और निवृत्ति अनियत हैं; किन्तु शास्त्रजनित कालादिकी अपेक्षावाले होनेसे नित्य कर्मोंका अनियत होना नहीं बन सकता। जिस प्रकार काम्य अग्निहोत्रको शास्त्रविहित होनेके कारण सायंकाल, प्रातःकालादिकी अपेक्षा है उसी प्रकार दोषनिमित्तक होनेपर भी नित्यकर्मोंको नियमकी अपेक्षा है।

तद्भोजनादिप्रवृत्तौ नियमवत्स्यादिति चेत्?

पूर्व०—वह नियम भोजनादिकी प्रवृत्ति होनेपर भिक्षाटनादिके नियमके समान हो सकता है। ऐसा कहें तो!

न, नियमस्याक्रियात्वात् क्रियायाश्चाप्रयोजकत्वान्नासौ ज्ञानस्यापवादकरः। तस्मात् परमात्मयाथात्म्य-

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नियम क्रियारूप नहीं है और क्रिया प्रयोजक नहीं होती; इसलिये यह (भिक्षाटनादिका नियम) ज्ञानका विरोधी नहीं है।[1] अतः परमात्मस्वरूपके ज्ञानसे सम्बन्ध

१. तात्पर्य यह है कि भिक्षाटनादिके विषयमें जो शास्त्रकी विधि है वह जिज्ञासुके लिये है। ज्ञानवान् शास्त्रविधिसे प्रेरित होकर उसका अनुसरण नहीं करता, अपितु उसमें उसकी प्रवृत्ति स्वभावतः ही होती है। इसलिये वह विधि ज्ञानकी विरोधिनी नहीं है। किन्तु नित्यकर्मादिके लिये जो विधि हैं उसमें हेयोपादेयबुद्धिवाले पुरुषकी ही प्रवृत्ति हो सकती है, इसलिये बोधवान्‌का उसमें प्रवृत्त न होना स्वाभाविक ही है।

ज्ञानविधेरपि तद्विपरीतस्थूलद्वैतादिज्ञाननिवर्तकत्वात् सामर्थ्यात्सर्वकर्मप्रतिषेधविध्यर्थत्वं सम्पद्यते; कर्मप्रवृत्त्यभावस्य तुल्यत्वाद् यथा प्रतिषेधविषये। तस्मात् प्रतिषेधविधिवच्च वस्तुप्रतिपादनं तत्परत्वं च सिद्धं शास्त्रस्य॥ १॥

रखनेवाली (तत्त्वमसि आदि) विधि भी उससे विपरीत स्थूल एवं द्वैतादि ज्ञानकी निवृत्ति करनेवाली होनेसे अपनी सामर्थ्यसे ही सब प्रकारसे कर्मका प्रतिषेध करनेवाली हो जाती है, क्योंकि उसमें कर्मकी प्रवृत्तिका अभाव वैसा ही है जैसा कि प्रतिषेधविषयक वाक्योंमें[1]। अत: प्रतिषेधविधिके समान ही तत्त्वमसि आदि शास्त्रका वस्तुप्रतिपादक और कर्म-निषेधपरक होना भी सिद्ध होता है॥ १॥



वाक्का उद्गान और उसका पापविद्ध होना

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥ २॥

उन देवताओंने वाक्से कहा, ''तुम हमारे लिये उद्गान करो।'' वाक्ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया। उसने जो वाणीमें भोग था उसे देवताओंके लिये गान किया और जो शुभ भाषण करती थी उसे अपने लिये गाया। तब असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अत:

१. जैसे निषेध शास्त्रको मानकर निषिद्ध भक्षण आदिमें प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वचनोंके सामर्थ्यसे कर्मोंमें प्रवृत्तिका अभाव होता है। इस प्रकार दोनोंमें समानता है।

उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह वाक् जो अननुरूप (निषिद्ध) भाषण करती है वही वह पाप है, वही वह पाप है॥ २॥

ते देवा हैवं विनिश्चित्य, वाचं वागभिमानिनीं देवतामूचुरुक्तवन्तः। त्वं नोऽस्मभ्यमुद्गायौद्गात्रं कर्म कुरुष्व। वाग्देवतानिर्वर्त्यमौद्गात्रं कर्म दृष्टवन्तः, तामेव च देवतां जपमन्त्राभिधेयाम् ''असतो मा सद्गमय'' (बृ० उ० १। ३। २८) इति। अत्र चोपासनायाः कर्मणश्च कर्तृत्वेन वागादय एव विवक्ष्यन्ते। कस्मात्? यस्मात्परमार्थतस्तत्-कर्तृकस्तद्विषय एव च सर्वो ज्ञान-कर्मसंव्यवहारः। वक्ष्यति हि ''ध्यायतीव लेलायतीव'' इत्यात्म-कर्तृकत्वाभावं विस्तरतः षष्ठे।

उन देवताओंने ऐसा निश्चय कर वाक्—वाक्के अभिमानी देवतासे कहा, ''तुम हमारे लिये उद्गान यानी उद्गाताका कर्म करो।'' उन्होंने औद्गात्रकर्मको वाग्देवतासे ही सम्पन्न होनेयोग्य देखा और उसी देवताको ''मुझे असत्से सत्के प्रति ले जा'' इस जपमन्त्रका भी अभिधेय जाना। यहाँ भी उपासना और कर्मके कर्तारूपसे वागादि ही विवक्षित हैं। क्यों? क्योंकि ज्ञान और कर्मसम्बन्धी सारा व्यवहार वस्तुतः उन्हींसे होनेवाला और उन्हींका विषय है। छठे अध्यायमें ''मानो ध्यान करता है, मानो चेष्टा करता है'' इत्यादि श्रुति विस्तारपूर्वक उस (व्यवहार) की आत्मकर्तृकता (आत्माके द्वारा किये जाने) का अभाव बतलावेगी।

इहापि चाध्यायान्ते उपसंहरिष्यति अव्याकृतादिक्रियाकारक-फलजातम् ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म'' (१। ६। १) इति अविद्या-विषयम्। अव्याकृतात्तु यत्परं परमात्माख्यं विद्याविषयम्

यहाँ भी अध्यायकी सम्पाप्तिमें ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म'' इस वाक्यद्वारा अव्याकृतादि क्रिया, कारक और फलसमूह अविद्याके ही विषय हैं—इस प्रकार श्रुति उपसंहार करेगी। तथा अव्याकृतसे आगे जो नाम, रूप और कर्मसे रहित परमात्मसंज्ञक विद्याका विषय है उसका

अनामरूपकर्मात्मकम् ''नेति नेति'' (२।३।६) इति इतर-प्रत्याख्यानेनोपसंहरिष्यति पृथक्। यस्तु वागादिसमाहारोपाधिपरिकल्पितः संसार्यात्मा तं च वागादि-समाहारपक्षपातिनमेव दर्शयिष्यति ''एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'' (२।४।१२) इति। तस्माद्युक्ता वागादीनामेव ज्ञानकर्मकर्तृत्वफलप्राप्तिविवक्षा।

''नेति नेति'' इस वाक्यद्वारा परमात्मेतर वस्तुका बाध करके अलग ही उपसंहार करेगी। और जो वागादिसंघातरूप उपाधिसे कल्पित संसारी आत्मा है उसे ''इन भूतोंसे उत्पन्न होकर वह इन्हींके नाशके साथ नष्ट हो जाता है'' इस वाक्यद्वारा वागादि संघातका पक्षपाती ही प्रदर्शित करेगी। अतः वागादिको ही ज्ञान और कर्मका कर्तृत्व है तथा उन्हें ही उनके फलकी प्राप्ति होती है—ऐसी विवक्षा उचित ही है।

तथेति तथास्त्विति देवैरुक्ता वाक्तेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय उदगाय-दुद्गानं कृतवती। कः पुनरसौ देवेभ्योऽर्थाय उद्गानकर्मणा वाचा निर्वर्तितः कार्यविशेषः? इत्युच्यते—यो वाचि निमित्त-भूतायां वागादिसमुदायस्य य उपकारो निष्पद्यते वदनादिव्यापारेण, स एव। सर्वेषां ह्यसौ वाग्वदनाभि-निर्वृत्तो भोगः फलम्।

देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर वाक्‌ने 'तथा'—तथास्तु (ऐसा ही हो) यह कहकर उन प्रार्थी देवताओंके लिये उद्गान किया। किंतु इस उद्गानकर्मके द्वारा वाणीसे देवताओंके लिये कौन-सा कार्यविशेष निष्पन्न हुआ? सो बतलाते हैं। वाणीके निमित्तभूत होनेपर उसके भाषणादि व्यापारद्वारा वागादि समुदायका जो उपकार होता है वही उनका कार्य-विशेष है। उन सबको वाणीके भाषणसे होनेवाला यह भोगरूप फल ही प्राप्त होता है।

तं भोगं सा त्रिषु पवमानेषु कृत्वा अवशिष्टेषु नवसु स्तोत्रेषु वाचनिकमार्त्विज्यं फलं यत्कल्याणं शोभनं वदति वर्णानभिनिर्वर्तयति तद् आत्मने मह्यमेव। तद्ध्यसाधारणं वाग्देवतायाः कर्म यत्सम्यग्वर्णानामुच्चारणम्। अतस्तदेव विशेष्यते यत्कल्याणं वदतीति। यत्तु वदनकार्यं सर्वसंघातोपकारात्मकं तद्याजमानमेव।

उस भोगको तीन पवमानोंमें करके उसने शेष नौ स्तोत्रोंमें जो ऋत्विक्सम्बन्धी वाचनिक[१] फल था अर्थात् वह जो कल्याण यानी सुन्दर भाषण—वर्णोच्चारण करती थी उसे अपने लिये अर्थात् यह मेरे लिये ही हो—इस प्रकार गान किया।* वर्णोंका जो ठीक-ठीक उच्चारण है यही वाग्देवताका असाधारण कर्म है। अतः 'यत्कल्याणं वदति' इस वाक्यद्वारा उसीको विशेष्यरूपसे बतलाया गया है। तथा समस्त संघातका उपकारक जो भाषणकार्य है वह यजमानसम्बन्धी ही है।

तत्र कल्याणवदनात्मसम्बन्धासङ्गावसरं देवताया रन्ध्रं प्रतिलभ्य ते विदुरसुराः, कथम्? अनेनोद्गात्रा नोऽस्मान्स्वाभाविकं ज्ञानं कर्म चाभिभूयातीत्य शास्त्रजनितकर्मज्ञानरूपेण ज्योतिषोद्गात्रात्मना अत्येष्यन्त्यतिगमिष्यन्ति।

तब, कल्याणवदनका मेरेसे सम्बन्ध है—इस प्रकारके अभिनिवेशका अवसररूप वाग्देवताका छिद्र देखकर उन असुरोंने जाना; क्या जाना? इस उद्गानकर्मद्वारा ये हमें अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान और कर्मको दबाकर उद्गातारूप शास्त्रजनित कर्म-ज्ञानरूप ज्योतिसे हमारा अतिगमन—उल्लङ्घन करेंगे। इस प्रकार जानकर

१. ''अथात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्''—इसके पश्चात् अपने लिये भक्ष्यरूप अन्नका आगान करे—इस वचनद्वारा श्रुत जो ऋत्विजोंका फल था।

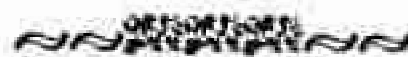
* ज्योतिष्टोममें बारह स्तोत्र हैं। उनमेंसे 'पवमान' नामक तीन स्तोत्रोंसे यजमानके फलका सम्पादन कर शेष नौ स्तोत्रोंसे उसने कल्याणवदनका सामर्थ्य अपने लिये गान किया।

इत्येवं विज्ञाय तमुद्गातारमभिद्रुत्याभिगम्य स्वेन आसङ्गलक्षणेन पाप्मनाविध्यंस्ताडितवन्तः संयोजितवन्त इत्यर्थः।

स यः स पाप्मा प्रजापतेः पूर्वजन्मावस्थस्य वाचि क्षिप्तः स एष प्रत्यक्षीक्रियते। कोऽसौ? यदेवेदमप्रतिरूपमननुरूपं शास्त्रप्रतिषिद्धं वदति येन प्रयुक्तोऽसभ्यबीभत्सानृताद्यनिच्छन्नपि वदति। अनेन कार्येणाप्रतिरूपवदनेन अनुगम्यमानः प्रजापतेः कार्यभूतासु प्रजासु वाचि वर्तते। स एवाप्रतिरूपवदनेनानुमितः स प्रजापतेर्वाचि गतः पाप्मा, कारणानुविधायि हि कार्यमिति॥ २॥

उस उद्गाताके पास जाकर उन्होंने अपने अभिनिवेशरूप पापसे उसे विद्ध—ताडित अर्थात् संयुक्त कर दिया।

वह जो पाप पूर्वजन्मावस्थित प्रजापतिकी वाणीमें डाला गया था वही यह प्रत्यक्ष किया जाता है। वह कौन-सा है? यह जो अप्रतिरूप—अननुरूप यानी शास्त्रसे प्रतिषिद्ध भाषण करती है। जिससे प्रेरित होकर ही यह इच्छा न होनेपर भी असभ्यतापूर्ण, बीभत्स और अनृतादि भाषण करती है। इस अननुरूप भाषणरूप कार्यसे अनुगत होता हुआ वह पाप प्रजापतिकी कार्यभूता प्रजाओंकी वाणीमें विद्यमान है। प्रजापतिकी वाणीमें पहुँचा हुआ वही पाप अननुरूप भाषणसे अनुमित होता है, क्योंकि कार्य तो कारणका अनुवर्तन करनेवाला होता है॥ २॥



प्राण, चक्षु श्रोत्र और मनका उद्गान तथा उनका पापविद्ध होना

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यः प्राण उद्गायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं जिघ्रति

तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा॥ ३॥

फिर उन्होंने प्राणसे कहा, ''तुम हमारे लिये उद्गान करो।'' तब प्राणने 'तथास्तु कहकर उनके लिये उद्गान किया। प्राणमें जो भोग है उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ सूँघता है उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अत: उन्होंने उनके समीप जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप सूँघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है॥ ३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायद्यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा॥ ४॥

फिर उन्होंने चक्षुसे कहा, ''तुम हमारे लिये उद्गान करो'' तब चक्षुने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। चक्षुमें जो भोग है उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ दर्शन करता है उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अत: उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप देखता है यही वह पाप है, यही वह पाप है॥ ४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति। तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य

पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं शृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५ ॥

फिर उन्होंने श्रोत्रसे कहा, ''तुम हमारे लिये उद्‌गान करो।'' तब श्रोत्रने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्‌गान किया। श्रोत्रमें जो भोग है उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ श्रवण करता है उसे अपने लिये गाया। असुरोंने जाना कि इस उद्‌गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अत: उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप श्रवण करता है, वही वह पाप है, यही वह पाप है ॥ ५ ॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्‌गायेति। तथेति तेभ्यो मन उद्‌गायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्‌गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाविध्यन् ॥ ६ ॥

फिर उन्होंने मनसे कहा, ''तुम हमारे लिये उद्‌गान करो'' तब मनने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्‌गान किया। मनमें जो भोग हैं उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ संकल्प करता है उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्‌गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अत: उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अननुरूप संकल्प करता है यही वह पाप है, यही वह पाप है। इस प्रकार निश्चय ही इन देवताओंको पापका संसर्ग हुआ और ऐसे ही [असुरोंने] इन्हें पापसे विद्ध किया ॥ ६ ॥